उत्तराखंड के इतिहास के स्रोत (Sources of history of Uttarakhand)

उत्तराखंड के इतिहास के स्रोत
(Sources of history of Uttarakhand)

मध्य हिमालय में 28 53 24 एवं 31 27 50 उत्तरी अक्षांस तथा 77 34 27 एवं 81 02 22 पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित भारत वर्ष का पर्वतीय राज्य उत्तराखंड के नाम से जाना जाता है। इस राज्य का मुल क्षेत्रफल लगभग 52483 वर्ग किमी है। उत्तराखंड के पश्चिम में हिमाचल प्रदेश, पूर्व में नेपाल, उत्तर में तिब्बत और दक्षिण में उत्तरप्रदेश राज्य स्थित है। 9 नवम्बर 2000 से पूर्व यह भाग उत्तरप्रदेश के पर्वतीय राज्य के रूप में था तो इस भाग के गढ़वाल कुमायूँ मण्डलों के नाम से जाना जाता था। वर्तमान में इस राज्य के अन्तर्गत गढ़वाल तथा कुमायूुँ मण्डल दो प्रशासनिक इकाइयों के अन्तर्गत अल्मोडा, पिथौरागढ़, चम्पावत, बागेश्वर, नैनीताल, उधमसिंह नगर, चमोली, पौडी गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल, रूद्रप्रयाग, उत्तरकाशी, देहरादून एवं हरिद्वार 13 जिले स्थित है।

उत्तराखंड के अध्ययन के स्रोतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. साहित्यिक स्रोत
2. पुरातात्विक स्रोत

1. साहित्यिक स्रोतः साहित्यिक स्रोतों को दो भागांे मेंे विभक्त किया जा सकता है।

अ. आलौकिक साहित्यः वैदिक, पुराणिक, जैन, बौद्ध एवं क्षैत्रीय साहित्य आदि में उत्तराखंड के प्राचीन इतिहास के बारे मेंे महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

1. वैदिक साहित्य - ऋग्वेद में हिमवत, उशीनर, गंगा एवं यमुना का उल्लेख हुआ है। उशीनर एवं हिमवत का वर्णन ऐतरेय ब्राहम्ण में गंगा और रथस्या का वर्णन आया है। गोपथ ब्राहम्ण मेंे उशीनर का वर्णन किया गया है।
2. पौराणिक ग्रन्थ - यद्यपि पौराणिक साहित्य में वैदिक साहित्य के बहुत बाद का है तो भी उत्तराखंड के बारे में अत्यन्त उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। पौराणिक साहित्य में उत्तराखंड के पर्वतों, तीर्थो एवं नदियों का वर्णन मिलता है। विष्णुपुराण, ब्रहमाण्ड पुराण, वराह पुराण, पद्म पुराण, मत्स्य पुराण, हरिवंश पुराण में उत्तराखंड का वर्णन हमें प्राप्त होता है।
3. जेैन ग्रन्थ - जैन ग्रन्थों में उत्तराखंड की तंगण जाति का उल्लेख प्राप्त होता है। इनके वष्हद कथा तथा महापुराण में भी इस क्षैत्र के इतिहास पर प्रकाश पडता है।
4. बौद्ध साहित्य- विभिन्न जातकों कमें बौधिसत्व तपस्वियों का वर्णन मिलता है। इन्होने हिमवन्त प्रदेश में जाकर तपस्या की थी। पालि साहित्य में हिमालय क्षैत्र के गंधमादन एवं काव्य आदि पर्वतों का उल्लेख मिलता है।
5. क्षेत्रीय पौराणिक साहित्य- केदारखण्ड तथा मानसखण्ड दो परवर्ती पौराणिक ग्रन्थ हैं। इनको स्कन्द पुराण का अशं माना जाता है। केदारखण्ड मेंे गढ़वाल क्षेत्र तथा मानसखण्ड में कुमायूँ क्षेत्र का सम्पूर्ण भौगोलिक परिचय हमें प्राप्त होता है।

ब. लौकिक साहित्यः जो ग्रन्थ आलौकिक नहीं होते है अर्थात् जिन ग्रन्थों में धार्मिक वर्णन कम प्राप्त होता है तथा जिनमें मात्र साहित्यिक तथा ऐतिहासिक वर्णन प्राप्त होता है इन ग्रन्थों को लौकिक साहित्य कहा जाता है। लौकिक ग्रन्थ मुलतः दो प्रकार के होते है।

1. एतिहासिक ग्रन्थ

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

2. शासकीय अभिलेख

1. एतिहासिक ग्रन्थः विभिन्न यात्रियों के वर्णन प्रकाशित तथा अप्रकाशित स्रोतों जैसे प्राचीन तथा आधुनिक साहित्यकारों की रचनांऐ एतिहासिक ग्रन्थों के अन्तर्गत आति है।

1. पाणिनी कृत अष्टाध्यायी
2. पतंजलि कृत महाभाष्य
3. कालिदास कृत रघुवशं, मेघदूतम् एवं कुमार सम्भवम्
4. सोमदेव कृत कथा सरितसागर
5. राजशेखर कृत काव्यमीमांसा
6. कल्हण कृत राजतरतंगणी
7. बाणभटट् कृत हर्षचरित
8. मेगस्थनीज कृत इण्डिका
9. अलबरूनी कृत तारीख-उल-हिन्द
10. इब्नबतूता कृत रेहला
11. याहिया बिन अहमद कृत तारीख-ए-मुबारकशाही
12. तैमूर कृत मलफुजात-ए-तैमूरी
13. अबुल फज़ल कृत आइने अकबरी
14. निजामुददीन अहमद कृत तबकात-ए-अकबरी
15. जहांगीर कृत जहांगीरनामा
16. इनायत खां कृत शाहजहाँनामा
17. भरत कवि कृत मानोदय काव्य
18. यात्रा वृतांत - हवेनसांग का यात्रा विवरण (सी-न्यू-की), टैवर्नियर का ट्रैवल्स इन इण्डिया, बर्नियर का ट्रैवल्स इन मुगल एम्पायर, जेम्स फ्रैजर का एन एकाउंट आफ द जर्नी टु द सोर्सेज आॅफ द यमुना एडं द भागीरथी रिवर्स, एवं मूर क्राफ्ट कृत जर्नी टु द लेक मानसरोवर आदि में उत्तराखंड के बारे में विवरण दिया गया है।

2. शासकीय अभिलेखः- उत्तराखंड में राजतन्त्रात्मक तथा गणतन्त्रात्मक दोनों ही प्रकार की शासन व्यवस्था थी जिनमें समय समय पर राज्या की घोषणायें, राजाज्ञायें आदि का प्रसाार होता रहा है। इस प्रकार के अभिलेख शासकीय अभिलेख कहलातेे है। इस प्रकार के अभिलेखों में मुख्य जनगणना रिपोर्ट, भू प्रबन्ध विवरण, कानुनी अभिलेख आदि मुख्य है। इनके अतिरिक्त ब्रिटिश कालीन गजेटियर्स जो पूर्णतः शासकीय तो नही थे परन्तु उनकी रचना शासन के द्वारा की गई थी। इनमें मुख्य है- एटकिन्सन कृत गजेटियर आफ द नार्थ-वैस्ट प्राविंसेज हिमालयन डिस्ट्रिक्ट (1882-86), वाल्टन कृत देहरादून गजेटियर, अल्मोड़ा गजेटियर एवं नेविल कृत गजेटियर आॅफ द नैनीताल डिस्ट्रिकट आदि में उत्तराखंड क्षैत्र के बारे मेेें महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

ब. पुरातात्विक स्रोत (Archaeological Sources)

1. मुद्रायें या सिक्केः उत्तराखंड के इतिहास एवं संस्कष्ति को जानने का महत्वपूर्ण स्रोत मुद्रायें है। लेकिन सभी वंशों की मुद्राएँ उपलब्ध नहीं है। जो मुद्राएँ उपलब्ध हुई है वह केवल कुणिन्द, यौधेय, कुषाणों, गोरखों और गढ़वाल नरेशों की ही प्राप्त हुयी है। ऐसा क्यों है यह विचारणीय प्रश्न है इसके लिये जो कारण उŸारदायी है वह या तो यह हो सकता है कि समाज में अधिकतर कार्य वस्तुविनिमय

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

के द्वारा होता होगा या जो मुद्राएँ मध्यदेश में प्रचलित हो उन्ही को उत्तराखंड के इन विभिन्न वंशीय शासकों ने अपना लिया होगा।

2. प्रागैतिहासिक कालीन सामग्रीः जिस प्रकार अन्य क्षैत्रों में मानव विकास के प्रारम्भिक चरण में पाषाण सामग्री का प्रयोग था ठीक उसी प्रकार से उत्तराखंड में अल्मोड़ा, चमोली, उŸारकाशी जनपदों के विभिन्न स्थानों में किये गये खुदाई (उत्खननं) कार्य में शिलाओं पर उत्कीर्ण चित्र, गुफाओं में गुफा चित्र एवं समाधियाँ प्राप्त हुई है। इस प्रकार वर्तमान पुरातात्विक खोजों के आधार पर यह निश्चिति हो गया है कि यहाँ पर भी पाषाण युगीन सभ्यता का विकास हुआ था। डाॅ. के. पी नौटियाल तथा उनके सहयोगियों ने श्रीनगर के निकटवर्ती क्षैत्रों के सर्वेक्षण से पाषाण युगीन सभ्यता के विभिन्न प्रकार के उपरकरण यथा चैपट, स्क्रेपर एवं साधारण फ्लेक हथियार प्राप्त हुये है। जो कि क्वार्जाइट पत्थर से निर्मित है। जिला चमोली में डुगरी ग्राम के निकट गोरक्ष गुेफा (ओडयार) से प्रागैतिहासिक काल की पेटिंग प्राप्त हुयी है।

3. प्राचीन अभिलेख- उत्तराखंड में बहुत से ऐतिहासिक अभिलेख प्राप्त हुए है यथा-

अ. उत्तराखंड में प्राप्त अभिलेख

1. शीलवर्मन का जगतग्राम इष्टिका लेख
2. लाखामण्डल से प्राप्त ईश्वरा की प्रशस्ति
3. पाडुकेश्वर और कंडारा से प्राप्त कार्तिकेयपुर नरेशों के दानपत्र।
4. ब्रह्मपूर नरेशों के दानपत्र।
5. भूदेव की बागेश्वर प्रशिस्त।
6. क्राचल्ल के बालेश्वर दानपत्र।
7. अशोकचल्ल का गोपेश्वर त्रिशुल लेख।
8. शक्ति मंदिर बाडाहाट (उŸारकाशी) का लेख।
9. अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर ग्राम का दानपत्र लेख।

ब. उत्तराखंड से बाहर प्राप्त अभिलेख

1. नागरक्षिता भिक्षुणी के भरहुत अभिलेख।
2. समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।
3. बाउक के जोधपुर अभिलेख।
4. मुर्गेर से प्राप्त देवपाल के दानपत्र।
5. यशोवर्मन के खजुराहों लेख।
6. बोधगया से प्राप्त सहणपाल के लेख।
7. नारायण पाल का भागलपुर अभिलेख।

4. प्राचीन मंदिर एवं मूर्तियाँ- उत्तराखंड प्राचीनकाल से ही देवभूमि के नाम से प्रसिद्ध है यहाँ पर अनेक मन्दिर स्थित है जिनका वर्णन करते हुऐ हमारा धार्मिक साहित्य रूकता नहीं है। ये सभी मन्दिर काष्ठ एवं भारी पाषाण शिलाओं द्वारा बनें है। जैसे केदारनाथ का मंदिर पांडवों द्वारा बनाया गया स्वीकार किया जाता है जिसमें भारी शिलाखण्डों का प्रयोग किया गया है जो उत्तराखंड की उच्च तकनिकीक क्षमता का परिचय दिलाता है।

1. बद्रीनाथ मंदिर
2. केदारनाथ मंदिर

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

3. कटारमल्ल (अल्मोड़ा) का सूर्य मन्दिर
4. द्वाराहाट के मंदिर
5. लाखामण्डल का शिव मंदिर
6. मोरध्वज का मंदिर
7. बागेश्वर का मंदिर

आदि।

उपरोक्त सभी स्रोतों से हम उत्तराखंड के इतिहास से परिचित होते है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड के भोटिया जनजाति: समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर एक गहन विश्लेषण

1. परिचय: एक हिमालयी समुदाय का सिंहावलोकन

1.1 उत्पत्ति, नामकरण और प्रजातीय पहचान

भोटिया जनजाति का नाम उनके ऐतिहासिक और भौगोलिक संबंधों का सीधा प्रतिबिंब है। 'भोटिया' शब्द की व्युत्पत्ति 'भोट' या 'बोद' से हुई है, जो तिब्बत का एक पारंपरिक नाम है[1]। तिब्बत से सटे सीमांत हिमालयी क्षेत्र को 'भोटान्त' या 'भोट प्रदेश' कहा जाता था, और इस क्षेत्र के निवासियों को ही 'भोटिया' कहा जाने लगा[1]। यह नामकरण केवल एक पहचान नहीं, बल्कि एक भौगोलिक और सांस्कृतिक विरासत को दर्शाता है जो सदियों से हिमालय पार के व्यापारिक और सामाजिक संबंधों से गढ़ी गई है।
मानव-वैज्ञानिकों ने भोटिया जनजाति को 'मंगोल प्रजाति' के अंतर्गत वर्गीकृत किया है। उनकी शारीरिक बनावट, जिसमें छोटी आँखें, चपटी नाक और गौरवर्ण जैसी विशेषताएँ शामिल हैं, इस प्रजातीय संबंध को पुष्ट करती हैं[1]। इन लक्षणों को तिब्बतियों के साथ हुए रक्त-मिश्रण का परिणाम माना जाता है[5]। भाषाई दृष्टिकोण से, उनकी बोली 'तिब्बती वर्मी भाषा परिवार' से संबंधित है, लेकिन पड़ोसी समुदायों के साथ लंबे समय तक सांस्कृतिक संपर्क के कारण वे हिंदी, गढ़वाली और नेपाली जैसी भाषाओं में भी पारंगत हैं[1]।
भोटिया समुदाय की पहचान का स्वरूप जटिल और बहुआयामी है। एक ओर, उनकी शारीरिक और भाषाई विशेषताएँ उनके मंगोलियाई-तिब्बती मूल को दर्शाती हैं, जो उनके तिब्बत के साथ गहरे ऐतिहासिक जुड़ाव को प्रमाणित करता है। दूसरी ओर, कुछ जानकार यह भी कहते हैं कि यह समुदाय स्वयं को 'हिंदू राजपूत' मानता है[7]। यह विरोधाभास उनकी दोहरी पहचान को रेखांकित करता है—एक ऐसा समुदाय जिसने दो अलग-अलग संस्कृतियों के बीच की सीमा पर अपना अस्तित्व बनाया और कायम रखा। वे न तो पूरी तरह से तिब्बती हैं और न ही पूरी तरह से भारतीय, बल्कि दोनों के सांस्कृतिक तत्वों का एक अनूठा सम्मिश्रण हैं, जिसने उनकी पहचान को एक विशिष्ट और संकरित स्वरूप प्रदान किया है।

1.2 निवास स्थान और उप-समूह

भोटिया जनजाति का निवास स्थान उत्तराखंड के उच्च हिमालयी क्षेत्रों में विस्तृत है। वे मुख्य रूप से पिथौरागढ़, चमोली, उत्तरकाशी और अल्मोड़ा जिलों में पाए जाते हैं[4]। उनका भौगोलिक वितरण नदी घाटियों के नाम पर आधारित है, जिससे वे विभिन्न उप-समूहों में विभाजित हैं।
इन प्रमुख उप-समूहों में शामिल हैं:

- **कुमाऊँ मंडल:** इस क्षेत्र में शौका, जौहारी, दारमी और चौंदासी जैसे उप-समूह हैं[3]। पिथौरागढ़ जिले में, लगभग 90% भोटिया धारचूला और मुनस्यारी तहसीलों में निवास करते हैं, जिन्हें उनका मूल स्थान माना जाता है[9]।
- **गढ़वाल मंडल:** यहाँ तोल्छा, मार्छा और जाड़ उप-समूह पाए जाते हैं[3]। तोल्छा और मार्छा चमोली जिले की नीति और माणा घाटियों में, जबकि जाड़ उत्तरकाशी जिले की जाड़ गंगा घाटी में रहते हैं[5]।

ऊँची पर्वत श्रृंखलाओं और दुर्गम घाटियों के कारण, एक घाटी के भोटिया समूह का दूसरी घाटी के समूह के साथ बहुत कम मेल-जोल होता था[3]। इस भौगोलिक अलगाव का उनके सामाजिक ताने-बाने पर

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

गहरा प्रभाव पड़ा। इसने प्रत्येक उप-समूह में अलग-अलग सांस्कृतिक और भाषाई विशिष्टताओं को जन्म दिया। उदाहरण के लिए, पूर्वकाल में तोल्छा और मार्छा उप-समूहों के बीच विवाह नहीं होते थे[3]। यह प्रथा इस बात का प्रमाण है कि भौगोलिक निकटता के बावजूद, सदियों से विकसित हुई सामाजिक परंपराएं और पहचान उन्हें एक-दूसरे से अलग रखती थीं।

2. भोटिया समाज: संरचना, जीवन शैली और प्रथाएँ

2.1 सामाजिक स्तरीकरण और पारिवारिक व्यवस्था

भोटिया समाज में एक संगठित सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें विभिन्न पदानुक्रम और गोत्र मौजूद हैं। समाज के भीतर, कुछ समूहों को निम्न माना जाता है। उदाहरण के लिए, कोली भोटिया को 'हरिजन' श्रेणी में रखा गया है और उनके साथ खान-पान में कुछ प्रतिबंध थे[1]। यह समुदाय मुख्यतः अंतर्विवाही है, हालाँकि कुछ उप-समूहों, जैसे जाड़ और खम्पा, में आमतौर पर अंतर्विवाह नहीं होता[1]।
भोटिया परिवार की संरचना पितृसत्तात्मक है, जहाँ परिवार का मुखिया पुरुष होता है, और यह प्रथा 'पितृ-स्थानीय' है, जिसमें विवाह के बाद दुल्हन पति के घर जाती है[2]। हालांकि, यह समाज महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार देता है, जो इसे अन्य पुरुष-प्रधान समाजों से अलग करता है। भोटिया समाज में महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी मानी जाती है[4]। संपत्ति का विभाजन पिता के जीवित रहते ही हो जाता है, और बड़े भाई को अतिरिक्त चल और अचल संपत्ति दी जाती है, जिसे
ज्यठूण कहा जाता है[2]। वहीं, जाड़ जनजाति में एक
विघटित परिवार व्यवस्था पाई जाती है, जहाँ पुत्रों के वयस्क होने पर उन्हें परिवार से अलग कर दिया जाता है[10]। परिवार के बुजुर्गों का बहुत सम्मान किया जाता है[2]।

2.2 जीवन शैली: मौसमी प्रवास (ऋतुकालीन प्रवास)

भोटिया समुदाय का जीवन सदियों से अर्ध-घुमंतू प्रकृति का रहा है। उनकी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार, जिसमें व्यापार और पशुपालन शामिल था, उन्हें साल में दो बार अपने आवास बदलने के लिए मजबूर करता था, जिसे 'ऋतुकालीन प्रवास' कहा जाता है[2]।
ग्रीष्मकाल में, वे अपने पयार या मैत नामक उच्च पर्वतीय गाँवों में रहते थे, जो तिब्बत सीमा के पास स्थित थे[3]। यहाँ वे तिब्बत से व्यापार करते थे और अपने पशुओं को चरागाहों (
बुग्याल) में चराते थे[3]। जैसे ही शीतकाल का आरंभ होता था, बर्फबारी और ठंड से बचने के लिए वे अपने गृहस्थ जीवन संबंधी सामग्री, व्यापारिक माल और भेड़-बकरियों के साथ निचली घाटियों में स्थित अपने
गंगाड़ या गुनसा नामक शीतकालीन गाँवों की ओर चले जाते थे[3]।
यह प्रवास केवल जलवायु के अनुकूलन के लिए नहीं था, बल्कि उनकी आर्थिक और सामाजिक संरचना का एक अनिवार्य हिस्सा था। यह उनके व्यापारिक माल को लाने-ले जाने का एक तंत्र था और पशुपालन के लिए आवश्यक था[3]। इस निरंतर गतिशीलता का उनके जीवन के हर पहलू पर प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए, यह प्रवास उन्हें मौसमी बीमारियों से ग्रस्त करता था, क्योंकि उन्हें शीत वातावरण में यात्रा करनी पड़ती थी[3]। साथ ही, उनका धार्मिक जीवन भी इससे प्रभावित था। वे मानते थे कि शीतकाल में जब उनके गाँव खाली हो जाते हैं, तो वहाँ भूत-प्रेत वास करने लगते हैं[3]। इस प्रकार, उनका 'ऋतुकालीन

Dr Rakesh Mohan Naithani

प्रवास' एक साधारण जीवन शैली नहीं, बल्कि उनके समाज, अर्थव्यवस्था, स्वास्थ्य और यहाँ तक कि आध्यात्मिक विश्वासों के बीच एक जटिल और गहरा संबंध था।

2.3 पारंपरिक रीति-रिवाज और प्रथाएँ

भोटिया समुदाय में कई विशिष्ट रीति-रिवाज और प्रथाएँ प्रचलित हैं जो उनके जीवन के महत्वपूर्ण पड़ावों को दर्शाती हैं। विवाह के संदर्भ में, माता-पिता की सहमति महत्वपूर्ण मानी जाती थी [11]। हालांकि, कुछ उप-समूहों में, जैसे जाड़ जनजाति,
रंग युवा-गृह जैसी परंपराएँ थीं, जहाँ अविवाहित युवक-युवतियाँ रात्रि में गीत और नृत्य के साथ विचारों का आदान-प्रदान करते थे और आपसी सहमति से प्रेम संबंध स्थापित करते थे [10]। सामान्यतः
एकाकी विवाह का प्रचलन है, लेकिन कुछ स्थानों पर भांवर देवरवा (जब एक विधवा अपने पति के भाई से विवाह करती है) और गंधर्व विवाह भी देखने को मिलते हैं [12]।
यह समुदाय अंधविश्वासी है और भूत-प्रेत, आत्मा और अन्य अलौकिक शक्तियों में गहरा विश्वास रखता है [1]। वे मानते हैं कि इन शक्तियों से उन्हें खतरा हो सकता है, विशेषकर तब जब वे अपने ग्रीष्मकालीन गाँवों को शीतकाल के लिए छोड़ते हैं। इन आत्माओं को शांत करने के लिए, वे अपने भोजन का एक छोटा हिस्सा निकालते हैं, जिसे
मासाण बाँटू (भूत-प्रेत का हिस्सा) कहा जाता है [3]। इसके अलावा,
रगोसा फरौण जैसे अनुष्ठान भी किए जाते हैं, जिन्हें भूत-प्रेतों को भगाने का साधन माना जाता है [3]। मृत आत्माओं की पूजा, जिसे
स्यिमी संस्कार कहा जाता है, भी महत्वपूर्ण है। इसमें वर्ष में एक बार बकरे की बलि और मदिरा का चढ़ावा दिया जाता है ताकि मृत पूर्वजों को शांत किया जा सके [15]।
भोटिया महिलाओं की पारंपरिक वेशभूषा उनके पर्वतीय परिवेश के अनुकूल होती है। वे अंगड़ी नामक ब्लाउज और ऊन से बना पाखी या लव नामक घाघरा पहनती हैं [16]। शुभ और मांगलिक कार्यों में वे
नथ, चंद्रहार, शूल, कमरबंद और गुलबंद जैसे आभूषण पहनती हैं [16]। एक और विशिष्ट प्रथा
ओल डालना है, जिसमें महिलाएं सम्मान के प्रतीक के रूप में अपने सिर को ढकती हैं [11]।

3. भोटिया अर्थव्यवस्था: हिमालय पार व्यापार से आधुनिक चुनौतियों तक

3.1 पारंपरिक अर्थव्यवस्था के स्तंभ: व्यापार, पशुपालन और दस्तकारी

भोटिया जनजाति की पारंपरिक अर्थव्यवस्था का मूल आधार हिमालय पार तिब्बत के साथ व्यापार था, जिसे गमग्या व्यापार पद्धति के नाम से जाना जाता था [1]। यह व्यापार सदियों तक उनकी आर्थिक जीवन की रीढ़ बना रहा। व्यापार के लिए वे कई दुर्गम दर्रों का उपयोग करते थे, जिनमें जोहारी भोटिया द्वारा प्रयुक्त
ऊँटा धुरा और दारमा घाटी के भोटिया द्वारा प्रयुक्त नेओ, लिपुलेख और लुम्पियालेख दर्रे प्रमुख थे [8]।
यह व्यापार अत्यधिक लाभदायक था। भोटिया व्यापारी तिब्बत से कच्चा ऊन, सुहागा (बोरेक्स), नमक, सोना, जड़ी-बूटियाँ, कस्तूरी और याक की पूँछ जैसी वस्तुओं का आयात करते थे [8]। बदले में, वे भारत से

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

अनाज, गुड़, तेल, सूखे मेवे, चीनी और कपड़े जैसी चीजें तिब्बत को निर्यात करते थे[8]। इस व्यापार का लाभ मार्जिन बहुत अधिक था; उदाहरण के लिए, तिब्बत से एक रुपये में खरीदा गया सुहागा बागेश्वर में 10 से 20 रुपये में बेचा जाता था[8]। यह व्यापार प्रणाली उनकी आर्थिक समृद्धि का मुख्य स्रोत थी।

जहाँ पुरुष व्यापारिक कारनामों में व्यस्त रहते थे, वहीं महिलाएँ अर्थव्यवस्था के दूसरे महत्वपूर्ण स्तंभ - ऊनी दस्तकारी - को संभालती थीं[6]। वे कुशल बुनकर थीं और कालीन, कंबल और विभिन्न ऊनी कपड़े बनाती थीं, जो उनके परिवारों के लिए आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत था[2]।

तालिका 1: हिमालय पार व्यापार: आयातित एवं निर्यातित वस्तुएँ

तिब्बत से आयातित वस्तुएँ	भारत से निर्यातित वस्तुएँ
कच्चा ऊन	अनाज
सुहागा (बोरेक्स)	गुड़, चीनी
नमक	तेल, चाय, सूखे मेवे
सोना, जवाहरात, कीमती पत्थर	सूती कपड़े, जूते
कस्तूरी, जड़ी-बूटियाँ	बर्तन, चमड़े की खाल
याक की पूँछ (चँवर पूँछ)	तम्बाकू

3.2 1962 का युद्ध और आर्थिक संक्रमण

भोटिया समुदाय की सदियों पुरानी आर्थिक प्रणाली पर 1962 के भारत-चीन युद्ध ने एक निर्णायक प्रहार किया। इस युद्ध के कारण तिब्बत के साथ उनके व्यापारिक संबंध अचानक समाप्त हो गए, जिसने उनकी पारंपरिक गमग्या व्यापार पद्धति की रीढ़ तोड़ दी[1]। यह सिर्फ एक राजनीतिक घटना नहीं थी, बल्कि एक ऐसी आर्थिक त्रासदी थी जिसने पूरे समुदाय के जीवन को बदल दिया।

व्यापार के अचानक बंद होने से भोटिया समुदाय को अपनी आजीविका के लिए नए रास्तों की तलाश करनी पड़ी। वे अपने पारंपरिक अर्ध-घुमंतू जीवन और व्यापार को छोड़कर कृषि, नौकरी (सरकारी और निजी दोनों), और अन्य नए व्यवसायों की ओर उन्मुख हुए[1]।

यह परिवर्तन एक श्रृंखला-प्रतिक्रिया की तरह हुआ जिसने उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को गहराई से प्रभावित किया। व्यापार के अंत के साथ, ऋतुकालीन प्रवास की आवश्यकता कम हो गई, क्योंकि व्यापारिक माल के लिए आवागमन की कोई आवश्यकता नहीं थी। प्रवास के कम होने से, युवा पीढ़ी पारंपरिक व्यवसायों, जैसे पशुपालन और ऊनी दस्तकारी में अपनी रुचि खोने लगी[3]। उन्होंने बेहतर अवसरों की तलाश में शहरों की ओर

पलायन करना शुरू कर दिया, जिससे उनके पारंपरिक ज्ञान प्रणाली और सांस्कृतिक विरासत को नुकसान पहुँचा। इस प्रकार, एक बाहरी राजनीतिक घटना ने एक पूरे समुदाय की जीवनशैली और सांस्कृतिक ताने-बाने को बदल दिया, जिससे उनकी पारंपरिक ज्ञान प्रणाली समाप्ति के कगार पर आ गई[18]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

3.3 वर्तमान आजीविका और चुनौतियाँ

वर्तमान में, भोटिया समुदाय की आजीविका में कृषि, पशुपालन और ऊनी दस्तकारी का मिश्रण है। वे अपनी बची हुई कृषि योग्य भूमि पर मुख्य रूप से राजमा और आलू जैसी नकदी फसलें उगाते हैं, क्योंकि ठंडे मौसम के कारण धान और गेहूँ जैसी फसलें नहीं उग पाती हैं[13]। हालांकि, सीमावर्ती क्षेत्रों में सैन्य विकास के लिए उनकी लगभग 60% कृषि भूमि का अधिग्रहण हो चुका है, जिससे उनके पास खेती के लिए कम जगह बची है[13]।

इसके बावजूद, ऊन उद्योग अभी भी उनके लिए एक महत्वपूर्ण आर्थिक स्रोत बना हुआ है। महिलाएँ पारंपरिक तरीकों से ऊनी कपड़े, कंबल और कालीन बनाती हैं, जिन्हें चारधाम यात्रा और स्थानीय मेलों में बेचा जाता है[6]।

4. भोटिया संस्कृति: परंपरा, आस्थाएँ और कलात्मक अभिव्यक्ति

4.1 धर्म और आध्यात्मिक विश्वास

भोटिया समुदाय के धार्मिक विश्वास हिंदू और बौद्ध धर्म का एक अनूठा संगम हैं। उत्तरकाशी के जाड़ भोटिया में तिब्बती बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखता है, जहाँ वे बौद्ध मठों में परिक्रमा करते हैं और मणि चर्खी घुमाते हैं[15]। वहीं, अधिकांश अन्य उप-समूह हिंदू धर्म का पालन करते हैं[2]। वे
नंदा देवी, नागराजा और दुर्गा भगवती जैसे हिंदू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, साथ ही प्रकृति की शक्तियों और पर्वत-शिखरों (जैसे कैलाश और पंचचूली) को भी पूजते हैं[6]।

उनके धार्मिक विश्वास सीधे तौर पर उनकी जीवनशैली से जुड़े हैं। वे गबला को मौसम का देवता मानते हैं और उनकी पूजा बारिश और बर्फ को रोकने और अच्छे मौसम के लिए की जाती है[4]।

भूमियाल गाँव और खेतों के संरक्षक देवता हैं, जिनकी पूजा फसल की सुरक्षा के लिए होती है[19]। इसी तरह,
सिदुवा और विदुवा जैसे लोक देवता उनके पशुधन की रक्षा करते हैं[15]। यह उनका व्यावहारिक धर्म है, जो पहाड़ों में जीवन की कठिनाइयों और खतरों, जैसे जोखिम भरे रास्तों और
अकाल मृत्यु के डर से उत्पन्न हुआ है[15]। ये आस्थाएँ उन्हें आत्मिक बल और सुरक्षा का एहसास प्रदान करती हैं।

4.2 प्रमुख त्यौहार और उत्सव

भोटिया समुदाय के त्यौहार उनकी सांस्कृतिक विविधता और ऐतिहासिक संबंधों को दर्शाते हैं। जाड़ भोटिया समुदाय का सबसे महत्वपूर्ण पर्व लोसर है, जो उनके नए साल का प्रतीक है[20]। इस तीन-दिवसीय उत्सव में वे दशहरा, होली और दीपावली को एक साथ मनाते हैं[20]। इस अवसर पर वे आटे की होली खेलते हैं और पारंपरिक वेशभूषा पहनकर भगवान बुद्ध की पूजा करते हैं[21]।

पिथौरागढ़ की चौंदास घाटी में हर 12 साल में एक विशेष कंडाली उत्सव मनाया जाता है, जिसे 'कंडाली की लड़ाई' के रूप में भी जाना जाता है[23]। इस उत्सव में, समुदाय के लोग कंडाली नामक एक पुष्पीय पौधे के खिलाफ प्रतीकात्मक लड़ाई लड़ते हैं। एक लोककथा के अनुसार, एक महिला ने इस पौधे को श्राप दिया था, जिसके बाद यह उत्सव उसके पौधों को नष्ट करने के लिए आयोजित किया जाता है[24]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

4.3 कला, संगीत और परिधान

भोटिया समुदाय के पास लोकगीतों और नृत्यों की एक समृद्ध मौखिक परंपरा है। उनके लोकगीतों में तुबेरा (प्रेम गीत), बाज्यू (वीर रस से भरपूर गीत), और तिमली (सामाजिक विषयों पर आधारित गीत) प्रमुख हैं[2]। उनके लोकप्रिय लोकनृत्यों में
छुरा और पूरण शामिल हैं, जिसमें पुरुष और महिलाएँ दोनों भाग लेते हैं[6]।
इन गीतों और नृत्यों में हुड़का नामक वाद्य यंत्र का विशेष महत्व है[2]। इसे उत्तराखंड का एक प्राचीन वाद्य यंत्र माना जाता है और इसे लकड़ी और बकरी की चमड़ी से बनाया जाता है[26]। हुड़का का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों (
जागर), लोकगीतों और उत्सवों में किया जाता है। इसकी ध्वनि को उत्तराखंड की सांस्कृतिक धड़कन के रूप में भी वर्णित किया गया है[27]।

तालिका 2: भोटिया उप-समूह और उनका निवास स्थान

उप-समूह	निवास स्थान (जिला)	निवास स्थान (घाटी/क्षेत्र)
शौका, जौहारी	पिथौरागढ़	जोहार, दारमा, ब्यास, चौंदास
तोल्छा, मार्छा	चमोली	नीति, माणा
जाड़	उत्तरकाशी	जाड़ गंगा घाटी (जादुंग, नेलंग, बागोरी, डुण्डा)
रंग	पिथौरागढ़	चौंदास घाटी

5. निष्कर्ष: चुनौतियों का समाधान और भविष्य का मार्ग

भोटिया जनजाति का इतिहास लचीलापन और अनुकूलन का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उनका जीवन एक 'अर्ध-घुमंतू' समुदाय के रूप में शुरू हुआ, जो हिमालय पार के व्यापार पर आधारित था। हालांकि, 1962 के युद्ध ने उनकी आर्थिक संरचना को पूरी तरह से बदल दिया। व्यापार के अचानक बंद होने से उनके लिए एक गंभीर आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ, जिसने उन्हें नए आजीविका विकल्पों पर निर्भर कर दिया [1]।
आर्थिक परिवर्तन के साथ, उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान पर भी दबाव बढ़ा। युवा पीढ़ी पारंपरिक व्यवसायों और ज्ञान (जैसे जड़ी-बूटियों की जानकारी) से दूर हो रही है, जिससे उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत के समाप्ति के कगार पर पहुँचने का खतरा बढ़ गया है[18]। इसके अतिरिक्त, सीमांत क्षेत्रों में सैन्य गतिविधियों के लिए भूमि का अधिग्रहण उनकी कृषि क्षमता को और भी सीमित कर रहा है, जिससे उनकी आजीविका पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है[13]।
इन चुनौतियों के समाधान के लिए, सरकार और गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) दोनों ने प्रयास किए हैं। प्रधानमंत्री जनजातीय उन्नत ग्राम अभियान (PMJUGA), मुख्यमंत्री स्वरोजगार योजना और होमस्टे योजना जैसी सरकारी पहलें इन समुदायों को बुनियादी ढाँचे, शिक्षा और रोजगार के नए अवसर प्रदान करने का प्रयास कर रही हैं[1]। इसी तरह,

ARPAN जैसे संगठन समुदाय के साथ मिलकर उन्हें सरकारी योजनाओं तक पहुँच बनाने और उनकी सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में मदद कर रहे हैं[31]।

भोटिया जनजाति के लिए भविष्य का मार्ग परंपरा और आधुनिकता के बीच एक विवेकपूर्ण संतुलन स्थापित करने में निहित है। उन्हें शिक्षा और नए व्यवसायों को अपनाना होगा, लेकिन इसके साथ ही उन्हें अपनी अद्वितीय सांस्कृतिक विरासत—जिसमें उनके त्यौहार, शिल्प, गीत, नृत्य और प्रकृति से जुड़ी आस्थाएँ शामिल हैं—को भी संरक्षित करने के प्रयास करने होंगे। यह न केवल उनकी पहचान को बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण है, बल्कि सतत विकास सुनिश्चित करने के लिए भी आवश्यक है। हिमालयी पर्यटन को बढ़ावा देना एक आर्थिक अवसर हो सकता है, लेकिन इसका प्रबंधन इस तरह से किया जाना चाहिए कि यह उनकी संस्कृति का व्यवसायीकरण न करे। भोटिया समुदाय का इतिहास उनकी असाधारण जीवटता, उद्यमशीलता और अनुकूलन की क्षमता का प्रमाण है[7], और ये गुण ही उन्हें भविष्य की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम बनाएंगे।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड के थारू: समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर एक आलेख

कार्यकारी सारांश

यह रिपोर्ट उत्तराखंड के तराई क्षेत्र में निवास करने वाली थारू जनजाति के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का एक गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है। पारंपरिक रूप से एक कृषि-आधारित और आत्मनिर्भर समुदाय, थारू लोग अपनी विशिष्ट संस्कृति और मजबूत मातृसत्तात्मक मूल्यों के लिए जाने जाते हैं। हालाँकि, आधुनिकता, बाह्य प्रभावों और सरकारी नीतियों के कारण उनके पारंपरिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। यह रिपोर्ट उनकी उत्पत्ति के सिद्धांतों में विरोधाभास, महिलाओं की बदलती सामाजिक स्थिति, पारंपरिक व्यवसायों से शहरी रोजगार की ओर पलायन, और कलात्मक विरासत के संरक्षण की चुनौतियों पर प्रकाश डालती है। विशेष रूप से, दिवाली को शोक पर्व के रूप में मनाने और प्रकृति पूजा से जुड़े 'वरना पूजा' जैसे उनके अद्वितीय सांस्कृतिक पहलुओं पर विस्तृत चर्चा की गई है। यह रिपोर्ट दर्शाती है कि थारू समुदाय एक संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहा है, जहाँ वे अपनी गौरवशाली विरासत और आधुनिक जीवन की आकांक्षाओं के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।

परिचय: थारू जनजाति - उद्गम और भौगोलिक विस्तार

थारू जनजाति उत्तराखंड की पाँच प्रमुख जनजातियों में से एक है और कुमाऊँ मंडल में सबसे बड़ा जनजातीय समूह है [1]। ये मुख्य रूप से उत्तराखंड के नैनीताल और ऊधम सिंह नगर जिलों के तराई अंचल में निवास करते हैं [1]। इस क्षेत्र में उनके लगभग 150 गाँव हैं, जो खटीमा, सितारगंज, किच्छा, नानकमत्ता और बनबसा जैसे स्थानों पर केंद्रित हैं [2]। उत्तराखंड में, वे कुल जनजातीय आबादी का लगभग 32% हैं, जिनकी अनुमानित जनसंख्या 70,000 है [2]। भारत में, उनका भौगोलिक विस्तार उत्तर प्रदेश और बिहार के तराई क्षेत्रों तक है, और नेपाल में भी उनकी एक बड़ी आबादी पाई जाती है [1]।

'थारू' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों और समुदाय में कई परस्पर विरोधी सिद्धांत प्रचलित हैं। एक मत यह है कि यह शब्द 'ठहरे' से आया है, जिसका अर्थ है 'जो लोग तराई के वनों में आकर बस गए' [1]। एक अन्य सिद्धांत इसे 'थार' रेगिस्तान से जोड़ता है, यह मानते हुए कि उनके पूर्वज वहाँ से आए थे [1]। कुछ शोधकर्ता 'थारू' को थेरवाद बौद्ध धर्म से भी जोड़ते हैं, जिसका अर्थ है 'स्थिरवाद' या 'बौद्ध धर्म का अनुयायी' [5]।

थारू लोगों की उत्पत्ति से संबंधित दो प्रमुख सिद्धांत उनकी पहचान की जटिलता को दर्शाते हैं। पहला और सबसे व्यापक रूप से प्रचलित सिद्धांत उनकी राजपूत उत्पत्ति का है, जिसे समुदाय स्वयं भी मानता है [1]। इस मान्यता के अनुसार, थारू चित्तौड़गढ़ के राणा वंश के वंशज हैं, जो 16वीं शताब्दी में मुगलों के आक्रमणों से बचने के लिए अपनी मातृभूमि छोड़कर हिमालय की तराई में चले आए [1]। यहाँ उन्होंने पहाड़ी महिलाओं से विवाह किया, जिनसे उत्पन्न संतान थारू कहलाई [1]। एक अन्य किंवदंती बताती है कि राजपूत स्त्रियाँ जौहर के अपमान से बचने के लिए अपने सेवकों के साथ जंगलों में शरण लीं और बाद में उन्हीं के साथ संबंध स्थापित किए [1]। यह कथा समाज में महिलाओं को प्राप्त उच्च स्थान की भी व्याख्या करती है [7]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

इसके विपरीत, नृवंशविज्ञानी और वैज्ञानिक साक्ष्य एक दूसरे सिद्धांत का समर्थन करते हैं। कई विद्वान थारूओं को मंगोल प्रजाति से संबंधित मानते हैं[1]। उनके शारीरिक लक्षण, जैसे कि छोटा कद, फूले हुए गाल, छोटी आँखें, चपटी नाक और सीधे बाल, मंगोलॉयड मूल का स्पष्ट संकेत देते हैं[10]। हाल ही में हुए एक डीएनए शोध में यह भी पाया गया है कि थारू जनजाति बुक्सा, जौनसारी और भोटिया जनजातियों के साथ एक ही मूल से संबंधित है, जो उनके हिमालयी क्षेत्र के मूल निवासी होने की ऐतिहासिक राय को पुष्ट करता है[8]। यह विरोधाभास थारू समुदाय के भीतर एक द्वैध पहचान को जन्म देता है, जहाँ वे एक ओर अपनी गौरवशाली राजपूत विरासत की कथा को बनाए रखना चाहते हैं, और दूसरी ओर, आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों और अपनी शारीरिक विशेषताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह संघर्ष उनकी सांस्कृतिक गतिशीलता और बाहरी समाजों के साथ उनके संबंधों को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

तालिका 1: थारू जनजाति की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांत

सिद्धांत	आधार	मुख्य प्रमाण
राजपूत मूल	स्वयं का दावा और ऐतिहासिक किंवदंतियाँ	चित्तौड़गढ़ के राणा वंश से संबंध[8]। मुगलों के आक्रमण से बचने की कहानी[1]। महिलाओं को प्राप्त उच्च सामाजिक स्थिति की व्याख्या[1]।
मंगोल/किरात मूल	नृवंशविज्ञानी और वैज्ञानिक साक्ष्य	मंगोलॉयड शारीरिक बनावट (फूले गाल, छोटी आँखें)[11]। डीएनए शोध में बुक्सा, जौनसारी और भोटिया से समानता[8]।

थारू समाज: संरचना, परिवार और प्रथाएँ

थारू समाज की संरचना पारंपरिक रूप से पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय रही है, जहाँ परिवार का मुखिया सबसे वृद्ध पुरुष होता है[10]। यह समुदाय संयुक्त परिवार प्रणाली के लिए जाना जाता है, जिनमें कभी-कभी 500 से अधिक सदस्य भी शामिल होते थे[11]। ऐसी विशाल पारिवारिक इकाईयाँ खून के रिश्तों की एकता का प्रतीक थीं और जमीन पर अतिक्रमण की संभावना को भी कम करती थीं[11]। संपत्ति का अधिकार पिता से पुत्र को हस्तांतरित होता है, और सभी पुत्रों में बराबर बाँटा जाता है[10]। हालाँकि, बाहरी प्रभाव के कारण ये विशाल संयुक्त परिवार अब एकल परिवारों में परिवर्तित हो रहे हैं[11]।

थारू समाज का एक सबसे महत्वपूर्ण और दिलचस्प पहलू महिलाओं की स्थिति में आया बदलाव है। पारंपरिक रूप से, थारू समाज में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में अधिक सम्मान और विशेषाधिकार प्राप्त थे[7]। महिलाओं को संपत्ति पर विशेष अधिकार प्राप्त था, और आभूषणों को उनकी व्यक्तिगत संपत्ति माना जाता था[1]। उन्हें अपनी इच्छा से पति को तलाक देने और पुनर्विवाह करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी[1]। एक अनूठी प्रथा यह थी कि पुरुषों को रसोईघर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी, और वे घर के बाहर बैठकर ही भोजन करते थे, जबकि महिलाएँ रसोई का प्रबंधन करती थीं[1]। यह स्थिति उनके कथित राजपूत राजघराने के वंश से जुड़ी हुई थी, जहाँ पुरुष उनके सेवकों के वंशज माने जाते थे, जो महिलाओं को सामाजिक श्रेष्ठता प्रदान करता था[7]।

हालांकि, यह पारंपरिक व्यवस्था अब आधुनिकता और बाहरी समाजों के संपर्क में आने से कमजोर हो रही है। शोध से पता चलता है कि थारू समाज भी धीरे-धीरे पुरुष प्रधान होता जा रहा है[7]। कुछ अध्ययनों के अनुसार, महिलाओं को आजीवन किसी न किसी पुरुष (पिता, भाई, पति या पुत्र) के अधीन रहना पड़ता है[12]। इस प्रकार, एक ही समुदाय में महिलाओं की दोहरी स्थिति दिखाई देती है: एक ओर, उनकी ऐतिहासिक विरासत उन्हें सशक्त मानती है; दूसरी ओर, मुख्यधारा के समाज से जुड़ने की प्रक्रिया उन्हें अपनी पहचान के इस महत्वपूर्ण हिस्से को छोड़ने के लिए मजबूर कर रही है। यह महिलाओं के लिए एक दोहरी चुनौती पैदा करता है, जहाँ उन्हें अपनी पारंपरिक भूमिकाओं को निभाते हुए भी नए सामाजिक और आर्थिक अवसरों को तलाशना पड़ रहा है[13]।

विवाह प्रथाओं में भी बदलाव देखने को मिला है। सगाई को 'दिखनौरी' या 'अपना-पराया' कहा जाता है, जिसमें दोनों पक्षों के बीच सामग्री का लेन-देन होता है[1]। पारंपरिक रूप से, वर पक्ष को दुल्हन के पिता को 'टेक' नामक एक दुल्हन मूल्य (Bride Price) अदा करना पड़ता था[11]। विधवा विवाह को स्वीकार किया जाता है, जिसके लिए 'लठभरवा भोज' का आयोजन होता है[1]। बाल-विवाह की प्रथा, जो मुगलों के अत्याचारों से कन्याओं की रक्षा के लिए शुरू हुई थी, अब लगभग समाप्त हो चुकी है, और लोग 21 वर्ष से ऊपर की उम्र में विवाह करना पसंद कर रहे हैं[10]। हालाँकि, दुख की बात है कि आधुनिकता के प्रभाव से प्रेम विवाह का प्रचलन बढ़ने के साथ ही दहेज प्रथा भी इस समाज में प्रवेश कर चुकी है[10]।

अर्थव्यवस्था: पारंपरिक आजीविका से आधुनिक परिवर्तन तक

थारू एक आत्मनिर्भर जनजाति है, जिसका आर्थिक जीवन मुख्य रूप से कृषि, पशुपालन और वनोपज पर आधारित था[1]। तराई की उपजाऊ भूमि में वे मुख्य रूप से धान, गेहूँ, मटर, दलहन और तिलहन जैसी फसलें उगाते हैं[1]। खेती के साथ-साथ, मछली पकड़ना भी उनका एक प्रमुख पेशा है, और मछली उनका प्रिय भोजन है[11]। वे अपने कृषि उपकरण, मकान और अन्य आवश्यक वस्तुएँ स्वयं बनाते थे, जिससे वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे[11]।

थारू महिलाएँ हस्तशिल्प में बहुत कुशल होती हैं। वे टोकरी, चटाई, दरी और हाथ के पंखे बनाने में निपुण होती हैं[11]। मिट्टी में भूसा मिलाकर बड़े-बड़े 'कोठार' (अनाज भंडारण के लिए) बनाना भी उनकी एक विशिष्ट कला है[11]। उनकी पारंपरिक कढ़ाई कला को लोककथाओं, देवी-देवताओं और प्रकृति से जोड़कर देखा जाता है[16]।

हालांकि, यह समुदाय अब कई आर्थिक चुनौतियों का सामना कर रहा है। पारंपरिक कृषि पद्धतियों के कारण कम उपज[1] और सरकारी/निजी नौकरियों के प्रति बढ़ती प्राथमिकता ने युवाओं को शहरों की ओर पलायन करने के लिए मजबूर किया है[9]। बेरोजगारी और गरीबी थारू युवाओं की प्रमुख समस्याएँ हैं[9]। पारंपरिक कलाएँ और शिल्प आधुनिकता की हवा के कारण लुप्त होने की कगार पर हैं[19]। युवा पीढ़ी पारंपरिक ज्ञान की उपेक्षा कर रही है, जिससे यह प्रणाली समाप्त हो रही है[20]।

इस गिरावट को रोकने के लिए सरकार और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा कई प्रयास किए जा रहे हैं। वन अधिकार अधिनियम, 2006, ने पीढ़ियों से जंगलों में रहने वाले समुदायों को भूमि और वन संसाधनों पर कानूनी अधिकार प्रदान किए हैं[21]। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा शुरू की गई 'जनजातीय पर्यटन योजना' का उद्देश्य थारू गाँवों को पर्यटन के नक्शे पर लाना, रोजगार सृजित करना और उनकी संस्कृति को बढ़ावा देना है[24]। इसके अतिरिक्त, कुछ महिलाएँ, जैसे कि छिद्दो देवी, पारंपरिक कढ़ाई कला को केले के जूट और जलकुंभी जैसी आधुनिक सामग्रियों के साथ मिलाकर पुनर्जीवित कर रही हैं और उन्हें बाज़ार से जोड़

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

रही हैं[16]। यह दर्शाता है कि विकास की प्रक्रिया एक दोधारी तलवार है; एक ओर, यह आर्थिक अवसर प्रदान करती है, लेकिन दूसरी ओर, यह सांस्कृतिक विरासत को कमजोर भी कर सकती है।

संस्कृतिः धर्म, पर्व और कलात्मक विरासत

थारू जनजाति मुख्य रूप से हिंदू धर्म का पालन करती है और देवी-देवताओं की मूर्ति पूजा में विश्वास रखती है[1]। वे नारायण, शिव और शक्ति के अलावा अपने स्थानीय लोक देवताओं, जैसे पछावन, खट्ग्य भूत, बूढ़े बाबू और भीमसेन की भी पूजा करते हैं[1]। थारू समाज अंधविश्वास और टोने-टोटके में भी विश्वास करता है[1]।

उनकी संस्कृति का एक अनूठा और विशिष्ट पहलू प्रकृति के प्रति उनका गहरा सम्मान है। वे पीपल जैसे वृक्षों की पूजा करते हैं[26]। बिहार के पश्चिमी चंपारण में थारू समुदाय द्वारा मनाया जाने वाला 'वरना पूजा' इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ वे प्रकृति को पुनर्जीवित होने का अवसर देने के लिए 60 घंटे का 'लॉकडाउन' करते हैं, जिससे प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी भी प्रभावित हुए हैं[27]। यह पूजा उनकी पारंपरिक जीवनशैली और प्रकृति के साथ उनके सहज संबंध को दर्शाती है।

पर्व और उत्सवों के मामले में भी थारू समुदाय की अपनी अनूठी पहचान है। उनका सबसे लोकप्रिय उत्सव होली है, जिसे वे बहुत धूमधाम से मनाते हैं, जिसमें पुरुष और महिलाएँ दोनों 'खिचड़ी' नृत्य करते हैं[1]। हालांकि, जो परंपरा उन्हें भारत के अन्य समुदायों से सबसे अलग करती है, वह दीपावली को एक शोक पर्व के रूप में मनाना है[1]। इस दिन वे अपने मृतक पूर्वजों को याद करते हैं और उनके लिए एक पुतला जलाते हैं, जिसे वे 'रोटी' कहते हैं[1]। हाल के वर्षों में, संचार क्रांति और उच्च जातियों के साथ बढ़ते संपर्क के कारण, थारू समाज भी अब दीपावली को शुभ पर्व के रूप में मनाने लगा है, जो सांस्कृतिक आत्मसातकरण का एक प्रमुख उदाहरण है[1]।

तालिका 2: थारू जनजाति के प्रमुख त्यौहार और उनकी विशेषताएँ

त्यौहार	विशेषताएँ
दीपावली	शोक पर्व के रूप में मनाने की अनूठी परंपरा, पूर्वजों को याद करना और उनके लिए पुतला जलाना[1]।
होली	सबसे लोकप्रिय उत्सव, सामूहिक नृत्य और गायन, इस अवसर पर 'खिचड़ी' नृत्य का प्रदर्शन[1]।
माघी	माघ महीने के पहले दिन मनाया जाने वाला नव वर्ष का त्यौहार[29]।

थारू महिलाएँ पारंपरिक रूप से घाघरा और चोली पहनती थीं, जिन पर विभिन्न प्रकार की कढ़ाई की जाती थी, जबकि पुरुष धोती और कुर्ता पहनते थे[19]। महिलाएँ कई तरह के आभूषणों का उपयोग करती थीं, जैसे पैरों में 'बांकड़ा', हाथों में 'खड़ुआ', नाक में 'नकफूल', 'लौंगी' और 'नथुनिया', और गले में 'कठुला' और 'साकर'[30]। पुरुष भी 'साकर' और 'हसुलिया' पहनते थे[30]। आज, पारंपरिक वेशभूषा केवल विशेष अवसरों तक ही सीमित रह गई है, और युवा अब जींस, शर्ट, सलवार सूट और साड़ी जैसे आधुनिक कपड़े पसंद करते हैं[19]।

तालिका 3: थारू महिलाओं के पारंपरिक आभूषण

आभूषण का नाम	पहनने का स्थान
बांकड़ा	पैर
खड़ुआ	हाथ
कठुला, साकर, पुन्ज	गला
नकफूल, लौंगी, नथुनिया	नाक
बाली, कोटिया ठुमरी	कान

थारू संस्कृति में लोकनृत्य और संगीत का विशेष महत्व है[19]। उनके प्रमुख लोकनृत्यों में 'खिचड़ी' नृत्य और 'झुगड़ा' शामिल हैं[1]। पारंपरिक रूप से वे ढोल, मृदंग और हारमोनियम जैसे वाद्ययंत्रों का उपयोग करते थे[19]। हालांकि, आधुनिकता के कारण इन पारंपरिक वाद्ययंत्रों की जगह डीजे और फिल्मी गानों ने ले ली है, जिससे उनकी कलात्मक विरासत खतरे में पड़ गई है[19]। यह प्रक्रिया इस समुदाय में एक सांस्कृतिक संकट को दर्शाती है, जहाँ पारंपरिक मूल्य और आधुनिकता के बीच एक संघर्ष जारी है।

निष्कर्ष और भविष्य की दिशा

थारू जनजाति, अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और आत्मनिर्भर जीवनशैली के साथ, उत्तराखंड के तराई क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण पहचान है। उनकी अनूठी सामाजिक संरचना, जहाँ पारंपरिक रूप से मातृसत्तात्मक मूल्यों का प्रभाव रहा है, उन्हें अन्य भारतीय समुदायों से अलग करता है। हालाँकि, यह समुदाय वर्तमान में कई चुनौतियों का सामना कर रहा है, जैसे कि पारंपरिक आजीविका का ह्रास, बेरोजगारी, सांस्कृतिक विरासत का क्षरण और पलायन।

आधुनिकीकरण और मुख्यधारा के समाज के साथ बढ़ते संपर्क ने उनकी जीवनशैली, विवाह प्रथाओं और कलात्मक अभिव्यक्ति में गहरे बदलाव लाए हैं। सरकारी योजनाएँ और अधिनियम, जैसे कि वन अधिकार अधिनियम और जनजातीय पर्यटन योजनाएँ, कुछ हद तक इन समस्याओं का समाधान करने का प्रयास कर रहे हैं। वन अधिकार अधिनियम ने भूमिहीनता की समस्या को संबोधित किया है, जबकि पर्यटन योजनाएँ उनकी संस्कृति को बढ़ावा देने और आर्थिक लाभ प्रदान करने में सहायक हो सकती हैं।

हालाँकि, इन विकास के प्रयासों में पारंपरिक ज्ञान और कलाओं को संरक्षित करने की चुनौती अभी भी बनी हुई है। उनकी विशिष्ट पहचान, जैसे कि दिवाली को शोक पर्व के रूप में मनाने की परंपरा और उनकी पारंपरिक वेशभूषा, धीरे-धीरे मुख्यधारा की संस्कृति में आत्मसात हो रही है। थारू जनजाति का भविष्य उनकी विरासत और प्रगति के बीच एक नाजुक संतुलन स्थापित करने पर निर्भर करता है। इसके लिए आवश्यक है कि नीति-निर्माता और शोधकर्ता न केवल उनकी आर्थिक समस्याओं का समाधान करें, बल्कि उनके सांस्कृतिक संरक्षण के प्रयासों को भी समर्थन दें। इसमें उनकी पारंपरिक शिक्षा को बढ़ावा देना, पारंपरिक कलाओं को आधुनिक बाज़ार से जोड़ना, और सामुदायिक नेतृत्व को सशक्त बनाना शामिल होना चाहिए, ताकि वे अपनी विशिष्ट पहचान को बनाए रखते हुए एक आत्मनिर्भर और प्रगतिशील जीवन जी सकें।

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की जौनसारी जनजाति: समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर एक गहन विश्लेषण

कार्यकारी सारांश

यह रिपोर्ट उत्तराखंड की एक प्रमुख अनुसूचित जनजाति, जौनसारी, के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करती है। उत्तराखंड का दूसरा सबसे बड़ा जनजातीय समुदाय होने के नाते, जौनसारी लोग मुख्य रूप से देहरादून के जौनसार-बावर क्षेत्र में निवास करते हैं[1]। ये स्वयं को महाभारत के पांडवों का वंशज मानते हैं और इनकी संस्कृति में बहुपति विवाह जैसी अनूठी परंपराएँ देखने को मिलती हैं[1]। हालांकि यह प्रथा अब लगभग समाप्त हो चुकी है[4]। समाज तीन मुख्य सामाजिक वर्गों में बंटा हुआ है—खसास (उच्च वर्ग), कारीगर (मध्य वर्ग) और कोल्टा (निम्न वर्ग)—जो गहरी सामाजिक असमानता को दर्शाता है[3]। इनकी अर्थव्यवस्था पारंपरिक रूप से कृषि और पशुपालन पर आधारित है[5]। हालांकि, कोल्टा समुदाय के लोग अक्सर बंधुआ मजदूरी और ऋणग्रस्तता की समस्या से जूझते हैं[3]। महासू देवता, जो भगवान शिव का एक रूप हैं, इनके प्रमुख आराध्य देव हैं और दीपावली जैसे त्यौहारों को ये विशेष पारंपरिक ढंग से मनाते हैं[1]। आधुनिक प्रभावों और सरकारी प्रयासों के बावजूद, यह समुदाय अपनी पारंपरिक पहचान और जीवनशैली को बनाए रखने का प्रयास कर रहा है, जबकि साथ ही सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों का सामना भी कर रहा है।

1. परिचय: एक हिमालयी समुदाय का उद्गम और विस्तार

1.1 भौगोलिक विस्तार और जनसंख्या

जौनसारी जनजाति मुख्य रूप से उत्तराखंड के पश्चिमी गढ़वाल क्षेत्र में निवास करती है, जो हिमाचल प्रदेश की सीमा से सटा हुआ है[7]। देहरादून जिले के कालसी, चकराता, और त्यूणी तहसील के पर्वतीय क्षेत्रों को 'जौनसार-बावर' के नाम से जाना जाता है, जहाँ इनकी सर्वाधिक जनसंख्या पाई जाती है[1]। इसके अतिरिक्त, ये टिहरी गढ़वाल के जौनपुर क्षेत्र और उत्तरकाशी के परगना नेकान क्षेत्र में भी रहते हैं[2]। उत्तराखंड की जनजातीय आबादी में यह समुदाय दूसरा सबसे बड़ा स्थान रखता है, जबकि गढ़वाल मंडल में यह सबसे बड़ा जनजातीय समूह है[1]। भारत सरकार ने 1967 में जौनसारी समुदाय को अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्रदान किया था[9]।

1.2 उत्पत्ति के सिद्धांत और पहचान

जौनसारी समुदाय की उत्पत्ति को लेकर कई मान्यताएँ प्रचलित हैं। समुदाय के लोग स्वयं को महाभारत काल के **पांडवों का वंशज** मानते हैं[1]। इस मान्यता का उनकी सामाजिक और विवाह संबंधी परंपराओं पर गहरा प्रभाव देखा जाता है[3]। हालांकि, प्रख्यात मानवविज्ञानी डी. एन. मजूमदार जैसे विद्वानों ने उनकी शारीरिक बनावट के आधार पर उन्हें 'खस' जाति का वंशज माना है[7]। उनके अनुसार, खस लोग आमतौर पर लंबे, सुंदर, गोरे, और तीखी नाक वाले होते हैं, जिनमें से कई विशेषताएँ जौनसारी समुदाय में भी पाई जाती हैं[7]। भाषाई दृष्टिकोण से, इनकी मुख्य भाषा
जौनसारी है, लेकिन बावर क्षेत्र में बावरी भाषा भी बोली जाती है[1]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

2. जौनसारी समाज: संरचना और प्रथाएँ

2.1 सामाजिक स्तरीकरण और परिवार व्यवस्था

जौनसारी समाज एक **पितृसत्तात्मक** (Patriarchal) और **पितृस्थानीय** (Patrilocal) व्यवस्था का पालन करता है[3]। परिवार में सबसे बड़ा पुरुष मुखिया होता है, जो सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेता है और संपत्ति की देखभाल करता है, हालाँकि सभी भाइयों का संपत्ति पर समान अधिकार होता है[3]। ये लोग संयुक्त परिवार प्रणाली में रहना पसंद करते हैं, जिनमें सभी भाई और उनके बच्चे एक साथ रहते हैं[3]।

इस समाज में **तीन स्तरीय सामाजिक स्तरीकरण** प्रचलित है जो जन्म पर आधारित है:

1. **खसास (उच्च वर्ग):** इसमें ब्राह्मण और राजपूत शामिल हैं। ये लोग भूमि के मालिक और समृद्ध होते हैं। इनमें आपस में वैवाहिक संबंध भी स्थापित होते हैं[3]।
2. **कारीगर (मध्य वर्ग):** इस वर्ग में सुनार, लोहार, बढ़ई और बाजगी जैसी जातियाँ आती हैं[3]। बाजगी समुदाय के लोग पारंपरिक रूप से विवाह और अन्य उत्सवों में वाद्य यंत्र बजाने का काम करते हैं[3]।
3. **कोल्टा (निम्न वर्ग):** इसमें डोम और मोची जैसी जातियाँ शामिल हैं, जिन्हें **हरिजन खसास** भी कहा जाता है[3]। इस वर्ग की सामाजिक और आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय है। कोल्टा गाँव की सीमा से बाहर निवास करते हैं और अक्सर भूमिहीन श्रमिक या 'बंधुआ मजदूर' के रूप में काम करते हैं[3]।

2.2 महिलाओं की स्थिति और विवाह प्रथाएँ

जौनसारी समाज में महिलाओं को सम्मान और आदर दिया जाता है[3]। उन्हें घर और खेती के कार्यों में सक्रिय भागीदार माना जाता है[3]। विवाहित महिलाओं को 'रईण' कहा जाता है, जिनका गाँव में बड़ा मान-सम्मान होता है[8]। पारंपरिक रूप से इस समुदाय में

बहुपति विवाह (Polyandry) की प्रथा प्रचलित थी, जहाँ सबसे बड़े भाई की पत्नी को उसके सभी छोटे भाइयों की भी पत्नी माना जाता था[3]। इस प्रथा को पांडवों और द्रौपदी की विवाह परंपरा से जोड़ा जाता था[3]। हालांकि, यह परंपरा अब लगभग समाप्त हो चुकी है[4]। तलाक को 'छूट' कहा जाता है और यह कुछ विशेष कारणों से संभव है, जैसे कि बाँझपन या गृहकार्य में परिश्रम न करना[3]।

2.3 बंधुआ मजदूरी की समस्या

जौनसारी समुदाय, विशेष रूप से कोल्टा वर्ग, में बंधुआ मजदूरी एक गंभीर समस्या रही है[3]। गरीबी और निरक्षरता के कारण ये लोग अक्सर कर्ज में फंस जाते हैं[13]। यदि कोई व्यक्ति ऋण नहीं चुका पाता, तो उसे ऋणदाता के यहाँ 'बंधक' के रूप में काम करना पड़ता है, और यह दासता अगली पीढ़ियों तक भी चल सकती है[3]। इस वर्ग की महिलाएँ भी गरीबी के कारण वेश्यावृत्ति के धंधे में धकेली जाती रही हैं[3]। यद्यपि 'बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम, 1976' जैसे कानून लागू किए गए हैं, फिर भी इस प्रथा के अवशेष कुछ क्षेत्रों में मौजूद हैं[6]।

3. अर्थव्यवस्था और आजीविका के साधन

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

जौनसारी जनजाति की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार **कृषि** और **पशुपालन** है[5]। तराई और भाबर के उपजाऊ क्षेत्रों में ये धान, मटर, मक्का, ज्वार, गेहूँ और जौ जैसी फसलें उगाते हैं[5]। कृषि कार्य में महिलाओं का विशेष योगदान होता है[3]। पशुपालन से प्राप्त दूध, ऊन और मांस भी उनकी अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है[6]। पारंपरिक रूप से, ये अपने घरों में ही शराब बनाते थे[5]। इसके अतिरिक्त, ये लोग मछली पकड़ने के लिए 'मछमौण' नामक एक विशेष विधि का प्रयोग करते हैं, जिसमें वे नदी में एक झाड़ी का पाउडर डालकर मछली पकड़ते हैं[5]।

आधुनिकता के साथ, युवाओं में अब नौकरी और अन्य व्यवसायों के प्रति रुचि बढ़ रही है, जिससे पारंपरिक व्यवसायों से पलायन भी हो रहा है[3]।

4. संस्कृति: धर्म, कला और त्यौहार

4.1 धर्म और आस्था

जौनसारी समुदाय की धार्मिक आस्थाएँ उनके सामाजिक ताने-बाने का अभिन्न अंग हैं। ये लोग स्वयं को पांडवों के वंशज मानते हैं और महासू देवता को अपना प्रमुख आराध्य देव मानते हैं[1]। महासू देवता को भगवान शिव का ही एक रूप माना जाता है[14]। एक विशिष्ट परंपरा के अनुसार, ये लोग **दुर्योधन की पूजा** भगवान सोमेश्वर के रूप में करते हैं, जबकि गढ़वाल के अन्य हिस्सों में पांडवों की पूजा की जाती है[7]। हनोल में स्थित महासू देवता मंदिर, हूण स्थापत्य शैली का एक शानदार उदाहरण है, जिसका निर्माण हूण राजवंश के मिहिरकुल हूण ने करवाया था[14]। यह मंदिर अपनी देव फुलवारी के लिए भी प्रसिद्ध है, जहाँ बिना बीज या पौध के सुगंधित फूल उगते हैं[15]।

4.2 त्यौहार और पर्व

जौनसारी समुदाय कई अनूठे त्यौहार मनाता है। इनका सबसे महत्वपूर्ण पर्व **बूदी** है, जिसे ये दीपावली के दूसरे दिन मनाते हैं[1]। इस अवसर पर ये पत्थरबाजी करते हैं[1]।

बोड़ा एक और महत्वपूर्ण त्यौहार है जो पूरे माघ महीने तक चलता है, जिसमें सामूहिक भोज, गायन और नृत्य का आयोजन होता है[16]।

4.3 लोकनृत्य, लोकगीत और वाद्य यंत्र

जौनसारी जनजाति में लोकगीतों और नृत्यों की समृद्ध परंपरा है। इनके लोकनृत्यों में नाटी और झुमैलो प्रमुख हैं। नाटी नृत्य हिमाचल प्रदेश के नृत्यों से काफी मिलता-जुलता है, जिसे महिलाएँ और पुरुष दोनों रंगीन पोशाक पहनकर एक साथ करते हैं[17]।

झुमैलो नृत्य नारी हृदय की वेदना और प्रेम को अभिव्यक्त करता है।

इनके पारंपरिक वाद्य यंत्रों में **ढोल, दमाऊ** और **रणसिंगा** शामिल हैं[17]।

रणसिंगा को हारोल नृत्य में बजाना अनिवार्य माना जाता है। हुड़का और मशकबीन जैसे वाद्य यंत्र भी इस्तेमाल किए जाते हैं[19]।

4.4 वेशभूषा और आभूषण

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

जौनसारी पुरुषों की पारंपरिक वेशभूषा में सर्दी में पहने जाने वाले ऊनी कोट, ऊनी पजामा (झगोली) और ऊनी टोपी (डिगुबा) शामिल हैं[2]। महिलाओं के लिए पारंपरिक वेशभूषा में घाघरा और चोली होती है[20]। उनके आभूषण भी विशिष्ट हैं, जिनमें पुरुषों के लिए कान में
मुरकी, गले में चांदी की जंजीर और हाथों में धागुला शामिल हैं[22]। महिलाओं के आभूषणों में माथे पर मांगटीका, नाक में बुलाक और नथ, गले में चंद्रहार, और हाथों व पैरों में पौंछी और कड़े शामिल हैं[22]। ये आभूषण केवल सुंदरता के प्रतीक नहीं होते, बल्कि कठिन समय में आर्थिक सहायता के रूप में भी काम आते हैं[22]।

5. निष्कर्ष: चुनौतियाँ और भविष्य की दिशा

जौनसारी जनजाति एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और आत्मनिर्भरता की भावना वाला एक समुदाय है। हालांकि, सामाजिक स्तरीकरण, गरीबी और बंधुआ मजदूरी जैसी चुनौतियाँ अभी भी कुछ वर्गों के लिए एक गंभीर समस्या बनी हुई हैं[3]। आधुनिकता के प्रभाव से पारंपरिक प्रथाएँ जैसे बहुपति विवाह और संयुक्त परिवार प्रणाली कमजोर हो रही हैं[3]। सरकारी और गैर-सरकारी संगठन इन समुदायों के सशक्तिकरण के लिए कार्य कर रहे हैं[11]। इसके अतिरिक्त, जौनसारी महिलाएं खुद को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने और आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी प्रयास कर रही हैं, जिससे समुदाय में एक नया परिवर्तन आ रहा है[11]। इन प्रयासों के साथ-साथ, उनकी अनूठी संस्कृति, जैसे महासू देवता की पूजा और उनके पारंपरिक त्यौहारों का संरक्षण, उनके भविष्य के लिए महत्वपूर्ण है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की बुक्सा और भोटिया जनजातियाँ: समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर एक विश्लेषणात्मक आलेख

सारांश

यह रिपोर्ट उत्तराखंड की दो प्रमुख अनुसूचित जनजातियों, बुक्सा और भोटिया के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्यों का एक गहन और विश्लेषणात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। पारंपरिक रूप से, दोनों समुदायों ने अपने-अपने विशिष्ट भौगोलिक और ऐतिहासिक संदर्भों में अपनी जीवनशैली को विकसित किया है। भोटिया जनजाति, जो कभी हिमालय पार तिब्बत के साथ अपने 'गमग्या व्यापार' के लिए जानी जाती थी, 1962 के भारत-चीन युद्ध के कारण अपनी पारंपरिक अर्थव्यवस्था को खोने के बाद एक गंभीर आर्थिक और सांस्कृतिक बदलाव के दौर से गुजरी है। इसके विपरीत, बुक्सा समुदाय, जो एक स्थिर कृषक जनजाति है, को आंतरिक सामाजिक समस्याओं जैसे शराब की लत और बाहरी भू-माफियाओं के कारण उत्पन्न हुई भूमिहीनता जैसी गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है।
रिपोर्ट में यह पाया गया है कि दोनों ही जनजातियाँ आधुनिकीकरण और बाहरी प्रभावों के कारण सांस्कृतिक संक्रमण के एक महत्वपूर्ण दौर से गुजर रही हैं। उनकी पारंपरिक वेशभूषा, भाषाएँ और सामाजिक संरचनाएँ तेजी से बदल रही हैं, जबकि बेरोजगारी और आर्थिक असुरक्षा जैसी साझा चुनौतियाँ इन समुदायों के लचीलेपन की परीक्षा ले रही हैं। यह आलेख इन समुदायों के सामने आ रही चुनौतियों और भविष्य के लिए संभावित समाधानों पर गहन अंतर्दृष्टि प्रदान करता है, जिसमें सरकारी योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन और सांस्कृतिक संरक्षण के प्रयासों की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

भूमिका: उत्तराखंड का जनजातीय परिदृश्य

भौगोलिक और ऐतिहासिक संदर्भ

उत्तराखंड भारत के उन राज्यों में से एक है जहाँ पाँच प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनमें थारू, जौनसारी, बुक्सा, भोटिया और राजी शामिल हैं। इन सभी जनजातियों को वर्ष 1967 में भारत सरकार द्वारा अनुसूचित जनजाति का दर्जा दिया गया था[1]। इन समुदायों का वितरण राज्य के अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में हुआ है, जिससे उनकी संस्कृति और जीवनशैली में भी विविधता आई है।
बुक्सा जनजाति मुख्य रूप से उत्तराखंड के नैनीताल, उधमसिंह नगर, पौड़ी गढ़वाल और देहरादून जिलों के साथ-साथ उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले के तराई क्षेत्रों में निवास करती है[1]। इनके निवास स्थान को 'बुक्सार' के नाम से जाना जाता है[2]। उत्तराखंड में थारू और शौकाओं (भोटिया) के बाद जनसंख्या की दृष्टि से इनका तीसरा स्थान है[1]। वहीं, भोटिया जनजाति हिमालयी क्षेत्र के निवासी हैं और उन्हें 'अर्ध-घुमंतू' समुदाय के रूप में जाना जाता है[5]। वे मुख्य रूप से पिथौरागढ़, चमोली और उत्तरकाशी जिलों में रहते हैं, जहाँ उनकी बस्तियाँ भारत-तिब्बत और भारत-नेपाल की सीमा से सटी हुई हैं[5]।

उत्पत्ति और उप-समूहों के सिद्धांत

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

दोनों ही जनजातियों की उत्पत्ति को लेकर कई सिद्धांत और किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। बुक्सा समुदाय स्वयं को राजस्थान के धारानगर के पवार वंशी राजपूतों का वंशज मानता है[1]। एक अन्य मत के अनुसार, उन्हें 'किरात वंश' से संबंधित माना जाता है, जो एक प्राचीन मंगोल जाति थी[12]। शारीरिक विशेषताओं के आधार पर, कुछ विद्वान उन्हें मंगोल प्रजाति का मानते हैं, हालाँकि उनके होंठ और बाल मंगोलों से भिन्न पाए जाते हैं, जो एक प्रजातीय मिश्रण को दर्शाता है[2]।

दूसरी ओर, भोटिया जनजाति का नाम तिब्बती शब्द 'भोट' से लिया गया है, जिसका अर्थ तिब्बत होता है[14]। कई नृवंशविज्ञानी उन्हें मंगोल प्रजाति का मानते हैं, जिसका प्रमाण उनकी शारीरिक बनावट, जैसे छोटी आँखें, चपटी नाक और पीतवर्णी मुखाकृति से मिलता है[14]। इसके बावजूद, ये लोग स्वयं को हिन्दू राजपूत मानते हैं[15]। एक महत्वपूर्ण डीएनए अध्ययन में पाया गया है कि जौनसारी, थारू और भोटिया जनजातियाँ मूलतः बुक्सा जनजाति के वंशज हैं[17]। यह वैज्ञानिक खोज इन सभी समुदायों के उद्गम के पारंपरिक सिद्धांतों को चुनौती देती है और यह सुझाव देती है कि भले ही उन्होंने अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में निवास किया हो और अलग-अलग संस्कृतियाँ विकसित की हों, लेकिन उनका मूल वंश एक ही हो सकता है। यह एक साझा हिमालयी विरासत को उजागर करता है।

बुक्सा जनजाति: समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति

सामाजिक जीवन और संरचना

बुक्सा समाज एक पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय और पितृस्थानीय परंपरा का पालन करता है, जहाँ वंश पिता के नाम से चलता है और परिवार का ज्येष्ठ पुरुष मुखिया होता है[18]। परिवार में मुखिया के आदेश का पालन करना अनिवार्य होता है[18]। हालांकि, बदलते समय के साथ, पारंपरिक संयुक्त परिवारों का स्थान अब एकल परिवार लेने लगे हैं[18]।

महिलाओं की स्थिति बुक्सा समाज में काफी महत्वपूर्ण है; उनकी भूमिका को पुरुषों से कम नहीं माना जाता है[18]। वे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में निर्णायक भूमिका निभाती हैं[20]। हालांकि, बाहरी समाजों के प्रभाव और जागरूकता की कमी के कारण, कुछ क्षेत्रों में पर्दा प्रथा भी देखने को मिलती है[1]। यह एक विरोधाभास प्रस्तुत करता है, जहाँ पारंपरिक रूप से सशक्त महिलाओं की स्थिति पर आधुनिकता के साथ आने वाले सामाजिक दबावों का प्रभाव दिख रहा है।

विवाह प्रथाओं में, बुक्सा समुदाय में विधवा विवाह, घरजंवाई प्रथा और बहुविवाह प्रचलित हैं[1]। इस समाज में प्रेम विवाह को अनुमति नहीं दी जाती है, लेकिन यह अंतर्जातीय और बहिर्गोत्रीय विवाह की प्रथा का पालन करता है[19]। बाल विवाह की प्रथा का जन्म मुगल आक्रमणकारियों से अपनी लड़कियों की रक्षा करने के उद्देश्य से हुआ था[20]।

समुदायिक मामलों के निपटारे के लिए, बुक्सा जनजाति में एक मजबूत सामाजिक संरचना है। गाँव के झगड़े-विवाद, विवाह और तलाक जैसे मुद्दों को 'बिरादरी पंचायत' में सुलझाया जाता है[4]। गाँव में एक समिति भी होती है जिसका प्रमुख मुखिया कहलाता है[19]।

अर्थव्यवस्था और आजीविका

बुक्सा समुदाय मूल रूप से एक कृषक जनजाति है, जिसका जीवन कृषि पर आधारित रहा है[20]। ये लोग मुख्य रूप से धान, गेहूँ, जौ और विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ, जैसे आलू, प्याज, बैंगन और गोभी का

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्पादन करते हैं[1]। कृषि के अलावा, उनका जीवन वनों पर भी निर्भर था, जहाँ वे शिकार करते थे और पशुपालन (गाय, भैंस, बकरी) से भी अपनी आजीविका चलाते थे[1]। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बढ़ई, लोहार और सुनार जैसे कार्य भी स्वयं करते थे[20]।

हालांकि, इस समुदाय के सामने एक गंभीर समस्या भूमिहीनता की है। पर्याप्त कृषि भूमि होने के बावजूद, शराब की लत और बाहरी लोगों (जिन्हें अक्सर 'भू-माफिया' कहा जाता है) द्वारा उनकी जमीन हड़पने के कारण वे भूमिहीन हो गए हैं[1]। इस भूमि का कोई सरकारी रिकॉर्ड नहीं है, जिससे उन्हें सरकारी योजनाओं का लाभ नहीं मिल पाता है, और वे दूसरों की जमीन पर मजदूरी करने के लिए मजबूर हो गए हैं[22]। आर्थिक रूप से पिछड़े होने के बावजूद[19], अब वे धीरे-धीरे आधुनिक रोजगार, जैसे सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियों की ओर बढ़ रहे हैं[24]। महिलाएं भी लघु और कुटीर उद्योगों में सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं, जैसे कि टोकरी, चटाई और दरी बनाना[20]।

सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन

बुक्सा जनजाति हिन्दू धर्म का पालन करती है और उनके धार्मिक विश्वासों में हिन्दू देवी-देवताओं के साथ-साथ स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा भी शामिल है[1]। वे महादेव, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, राम और कृष्ण की पूजा करते हैं[25]। उनके स्थानीय देवता ग्राम खेड़ी देवी (भवानी), साकरिया देवता और चामुंडा देवी हैं, जिन्हें वे अपनी सबसे बड़ी देवी मानते हैं[4]। इसके अलावा, वे कल्पित आत्माओं की पूजा भी करते हैं, जिन्हें 'बुज्जा' कहा जाता है[25]।

जादू-टोने और तंत्र-मंत्र में उनका गहरा विश्वास है[19]। उनका मानना है कि रोग और दुर्घटनाएँ बुरी आत्माओं और भूत-प्रेतों के प्रकोप के कारण होती हैं, जिन्हें शांत करने के लिए पशु बलि दी जाती है[19]। इस विद्या के ज्ञाता व्यक्ति को 'भरारे' या 'सयाना' कहा जाता है[19]। हालाँकि, अब आधुनिक चिकित्सा के प्रति भी जागरूकता बढ़ रही है[28]।

चैती, नौवी होली और दीपावली उनके प्रमुख त्यौहार हैं[19]। दीपावली पर थारू जनजाति द्वारा शोक पर्व मनाने की परंपरा, जो बुक्सा के निकट संबंध को दर्शाती है, एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहलू है[29]।

पारंपरिक रूप से, पुरुष धोती, कुर्ता, सदरी और पगड़ी पहनते थे, जबकि महिलाएँ ढीले लहंगे और चोली पहनती थीं[3]। लेकिन अब बाहरी समाज के संपर्क में आने से आधुनिक पोशाकें, जैसे जींस, पैंट और साड़ी, आम हो गई हैं[3]। चावल और मछली उनका मुख्य भोजन है[1]।

भोटिया जनजाति: समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति

सामाजिक जीवन और संरचना

भोटिया समाज की पारिवारिक संरचना पितृसत्तात्मक है[5]। संपत्ति का विभाजन पिता के जीवित रहते ही हो जाता है, और ज्येष्ठ पुत्र को 'ज्यठूण' नामक एक अतिरिक्त हिस्सा मिलता है[32]। एक प्रगतिशील सामाजिक पहलू यह है कि इस समुदाय में महिलाओं को भी संपत्ति पर पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं[5]।

विवाह के लिए माता-पिता की सहमति महत्वपूर्ण थी, और युवा जोड़े की सहमति आवश्यक नहीं मानी जाती थी[32]। हालाँकि, 'रंगबैंग' नामक एक पारंपरिक युवा-गृह प्रथा थी, जहाँ अविवाहित युवक-युवतियाँ

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

रात में नृत्य और गीतों के माध्यम से एक-दूसरे के साथ संवाद करते थे, जिससे प्रेम संबंध स्थापित हो सकते थे [16]।

अर्थव्यवस्था और आजीविका

भोटिया जनजाति का आर्थिक जीवन सदियों से हिमालय पार तिब्बत के साथ होने वाले व्यापार पर आधारित था, जिसे 'गमग्या व्यापार' के नाम से जाना जाता था [33]। यह व्यापार न केवल उनकी आजीविका का एकमात्र स्रोत था बल्कि उनके समाज और संस्कृति का भी केंद्र था। वे भारत से अनाज, गुड़, कपड़े और जूते जैसी वस्तुएँ तिब्बत को निर्यात करते थे, और बदले में तिब्बत से ऊन, बोरेक्स (सुहागा), जड़ी-बूटियाँ, नमक और याक की पूंछ जैसी वस्तुएँ आयात करते थे [33]। यह व्यापार बेहद लाभदायक था, जहाँ भारत से आयातित माल तिब्बत में आठ गुना अधिक कीमत पर बेचा जाता था [33]।
हालांकि, 1962 के भारत-चीन युद्ध ने इस व्यापार को अचानक और स्थायी रूप से समाप्त कर दिया [14]। इस घटना ने भोटिया समुदाय के जीवन को मौलिक रूप से बदल दिया। व्यापार बंद होने के बाद, वे पारंपरिक पशुपालन (भेड़ और बकरियाँ), ऊनी दस्तकारी और कृषि (विशेषकर राजमा और आलू की खेती) की ओर मुड़ गए [5]। महिलाएं विशेष रूप से ऊनी कपड़े, जैसे कालीन और कंबल बनाने में कुशल हैं, जिन्हें अब स्थानीय मेलों और चारधाम यात्रा के दौरान बेचा जाता है [5]। शिक्षा के बढ़ने के साथ, अब वे सरकारी और निजी सेवाओं में भी रोजगार प्राप्त करने लगे हैं [5]।

सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन

भोटिया समुदाय की धार्मिक आस्था में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का एक अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है [37]। वे हिन्दू देवी-देवताओं, जैसे नंदा देवी और शिव की पूजा करते हैं, साथ ही बौद्ध धर्म की मान्यताओं का भी पालन करते हैं, जिसमें बौद्ध मठों की परिक्रमा करना और मणि चर्खी घुमाना शामिल है [37]। वे प्रकृति की शक्तियों और स्थानीय देवताओं, जैसे लाटू देवता (जो न्याय के देवता और नंदा देवी के धर्म भाई माने जाते हैं) और भूमियाल देवता की भी पूजा करते हैं [41]।
उनके प्रमुख त्यौहारों में लोसर (नव वर्ष) शामिल है, जिसे जाड़ भोटिया समुदाय द्वारा धूमधाम से मनाया जाता है, और इसमें वे आटे की होली खेलकर नए साल का स्वागत करते हैं [44]। एक और अनूठा पर्व कंडाली है, जो हर 12 साल में चौदास घाटी में मनाया जाता है, जहाँ एक कांटेदार पौधे को नष्ट कर बुरी शक्तियों को खत्म करने का प्रतीक माना जाता है [46]।
भोटिया जनजाति के लोकगीतों में तुबेरा (रसिया), बाज्यू (वीर रस) और तिमली (सामाजिक विषय) शामिल हैं [5]। उनका विशेष पारंपरिक वाद्य यंत्र
हुड़का है, जिसे ढोल मजीरा के साथ नृत्य और धार्मिक अनुष्ठानों में बजाया जाता है [5]। भोटिया नृत्य शैली अपने ऊर्जावान और जीवंत आंदोलनों के लिए जानी जाती है [49]।

तुलनात्मक विश्लेषण और वर्तमान चुनौतियाँ

बुक्सा और भोटिया जनजातियों का तुलनात्मक सारणी

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

पहलू	बुक्सा जनजाति	भोटिया जनजाति
निवास स्थान	नैनीताल, उधमसिंह नगर, देहरादून, पौड़ी (तराई क्षेत्र) [1]	पिथौरागढ़, चमोली, उत्तरकाशी (हिमालयी सीमा) [8]
उत्पत्ति सिद्धांत	धारानगर के पवार राजपूत [1], किरात वंश, या मंगोल प्रजाति [2]	तिब्बती मूल के मंगोल [14], स्वयं को हिन्दू राजपूत मानते हैं [15]
पारंपरिक अर्थव्यवस्था	कृषि (धान, गेहूँ) और जंगल आधारित [1]	हिमालय पार व्यापार (तिब्बत से गमग्या व्यापार) [33]
वर्तमान आजीविका	कृषि, मजदूरी, सरकारी नौकरी, कुटीर उद्योग [1]	पशुपालन, ऊनी दस्तकारी, कृषि (राजमा, आलू), सरकारी नौकरी [5]
सामाजिक संरचना	पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय, पितृस्थानीय [18]	पितृसत्तात्मक, लेकिन महिलाओं को संपत्ति में समान अधिकार [5]
प्रमुख त्यौहार	चैती, नौवी होली, दीपावली [19]	लोसर, कंडाली [45]
आधुनिकीकरण का प्रभाव	शराब की लत, भूमिहीनता, सांस्कृतिक क्षरण [1]	1962 के युद्ध से अर्थव्यवस्था का पूर्ण बदलाव, सांस्कृतिक बदलाव और पलायन [14]

साझा चुनौतियाँ और निहितार्थ

यद्यपि दोनों जनजातियों का इतिहास और भौगोलिक संदर्भ भिन्न है, फिर भी वे कुछ साझा चुनौतियों का सामना कर रही हैं जो उनके भविष्य के लिए खतरा बन रही हैं।

- **आर्थिक असुरक्षा:** भोटिया समुदाय के लिए, पारंपरिक व्यापार का अचानक बंद होना एक बड़ा आर्थिक आघात था, जबकि बुक्सा समुदाय की जमीनें शराब की लत और बाहरी लोगों द्वारा हड़प ली गईं, जिससे वे भूमिहीन हो गए हैं [1]। दोनों ही समुदायों के पारंपरिक आजीविका के साधन बाधित हुए हैं, और वे नए आर्थिक प्रणालियों में पूरी तरह से एकीकृत नहीं हो पाए हैं, जिससे गरीबी और बेरोजगारी बढ़ रही है [51]।
- **सांस्कृतिक क्षरण:** आधुनिकीकरण के प्रभाव में, दोनों समुदायों की पारंपरिक पोशाकें (घाघरा, चोली, धोती) अब केवल विशेष अवसरों तक ही सीमित रह गई हैं [52]। पारंपरिक लोकगीत और संगीत (जैसे हुड़का) डीजे और फिल्मी गीतों से बदल रहे हैं [52]। संयुक्त परिवारों की परंपरा भी कमजोर हो रही है [20]। यह सांस्कृतिक क्षरण इन समुदायों की विशिष्ट पहचान के लिए एक गंभीर खतरा है।
- **पलायन:** विशेषकर भोटिया समुदाय में, पारंपरिक व्यापार बंद होने और आर्थिक अवसरों की कमी के कारण पलायन की समस्या बढ़ रही है [53]। यह एक दुष्चक्र बनाता है, जहाँ पलायन के कारण

पारंपरिक ज्ञान और कौशल अगली पीढ़ी तक हस्तांतरित नहीं हो पाते, जिससे समुदाय की आर्थिक चुनौतियाँ और भी बढ़ जाती हैं।

निष्कर्ष और भावी सुझाव

समग्र निष्कर्ष

उत्तराखंड की बुक्सा और भोटिया जनजातियाँ, अपने विशिष्ट इतिहास, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक प्रथाओं के साथ, आधुनिकता के साथ अपनी पहचान को संतुलित करने के लिए एक महत्वपूर्ण संघर्ष में हैं। भोटिया समुदाय के लिए, 1962 का युद्ध एक बाहरी कारण था जिसने उनके जीवन को बदल दिया, जबकि बुक्सा समुदाय के लिए भूमिहीनता एक आंतरिक सामाजिक और आर्थिक समस्या है जो उन्हें लगातार कमजोर कर रही है। दोनों ही समुदाय सांस्कृतिक और आर्थिक संक्रमण के दौर में हैं, जहाँ उनके पारंपरिक मूल्य और ज्ञान आधुनिक दबावों के सामने संकट में हैं।

भावी सुझाव

इन जनजातीय समुदायों के सशक्तिकरण, सांस्कृतिक संरक्षण और स्थायी विकास के लिए गहन प्रयासों की आवश्यकता है।

- **आर्थिक सशक्तिकरण:** पारंपरिक ऊनी उद्योग और हस्तशिल्प (जैसे बुक्सा महिलाओं द्वारा टोकरी बनाना) को बढ़ावा देने के लिए बाजार तक पहुँच प्रदान करना और सरकारी सहायता [54] सुनिश्चित करना। जनजातीय पर्यटन योजनाओं को प्रभावी ढंग से लागू करना, जिससे स्थानीय लोगों के लिए रोजगार के अवसर पैदा हों [59]।
- **भूमि अधिकार:** वन अधिकार अधिनियम (FRA) के तहत भूमि के अधिकार सुनिश्चित करना और भू-माफियाओं के खिलाफ सख्त कानूनी कार्रवाई करना [61]।
- **शिक्षा और जागरूकता:** शिक्षा के स्तर को बढ़ाना और सरकारी योजनाओं (जैसे PM-Janjatiya Unnat Gram Abhiyan और Buksa & Raji Tribe Development Scheme) के बारे में जागरूकता फैलाना ताकि वे उनका लाभ उठा सकें [65]।

सांस्कृतिक संरक्षण: पारंपरिक कलाओं, लोकगीतों, नृत्यों और भाषाओं को संरक्षित करने के लिए सामुदायिक प्रयासों और सरकारी सहायता को प्रोत्साहित करना। उनके पारंपरिक ज्ञान को दस्तावेजीकरण करना और नई पीढ़ी को इसके महत्व के बारे में जागरूक करना आवश्यक है।

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की कला और वास्तुकला: हिमालयी पारिस्थितिकी, अध्यात्म और स्थापत्य ज्ञान का संश्लेषण

I. परिचय: देवभूमि की सांस्कृतिक विरासत और भौगोलिक नियति

उत्तराखंड, जिसे 'देवभूमि' के नाम से जाना जाता है, की कला और वास्तुकला केवल सौंदर्यशास्त्र या धार्मिकता का प्रदर्शन मात्र नहीं है, बल्कि यह क्षेत्र के कठोर भौगोलिक वातावरण, गहन आध्यात्मिक विश्वास और सदियों के संरचनात्मक ज्ञान का एक अद्वितीय संश्लेषण है। यहां की कला और वास्तुकला की प्रमुख विशेषताएं इन दोनों क्षेत्रों—गढ़वाल और कुमाऊं—की क्षेत्रीय शैलियों और उनकी ऐतिहासिक नियति द्वारा आकारित हुई हैं [1]।

1.1. भौगोलिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उत्तराखंड की संस्कृति का विकास हिमालय की दुर्गम पहाड़ियों में हुआ, जिसने यहां के निवासियों को ऐसी निर्माण शैलियाँ विकसित करने के लिए प्रेरित किया जो जलवायु के अनुकूल और भूगर्भीय रूप से स्थिर हों। ऐतिहासिक रूप से, कत्यूरी राजवंश का उदय इस क्षेत्र की मंदिर वास्तुकला का स्वर्णकाल था। 7वीं से 11वीं शताब्दी ईस्वी के दौरान, कत्यूरी शासकों ने कुमाऊं क्षेत्र में बड़े पैमाने पर मंदिरों का निर्माण शुरू किया, जिसने उत्तराखंड की स्थापत्य कला की नींव रखी [2]। बाद में, चंद राजवंश (16वीं-18वीं शताब्दी ईस्वी) ने इस शैली को आगे बढ़ाया, जबकि गढ़वाल के पंवार शासकों ने चार धामों (केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री) जैसे प्रमुख तीर्थ स्थलों पर संरचनात्मक बुनियादी ढांचे के विकास और संरक्षण पर ध्यान केंद्रित किया [2]।

1.2. कला और वास्तुकला की द्वैत प्रकृति

उत्तराखंड की वास्तुकला अनिवार्य रूप से दो परस्पर विरोधी शक्तियों के समन्वय से उत्पन्न हुई है। एक ओर, **आध्यात्मिक आवश्यकता** थी जिसने भव्य तीर्थस्थलों और पूजा स्थलों के निर्माण को प्रेरित किया, जो धार्मिक जीवन का केंद्र थे। दूसरी ओर, **भौगोलिक मजबूरी** थी, क्योंकि यह क्षेत्र उच्च भूकंपीय जोखिम और भारी बर्फबारी के प्रति संवेदनशील है।

यह गहन विश्लेषण दर्शाता है कि यहां की वास्तुकला की विशिष्ट विशेषताएं केवल सौंदर्यशास्त्र या धार्मिक प्रेरणा से उत्पन्न नहीं हुईं, बल्कि यह कठोर हिमालयी वातावरण और अस्थिर पर्वत श्रृंखलाओं पर अस्तित्व की अनिवार्यता से उपजी थीं। इमारतों को अनिवार्य रूप से टिकाऊ (Durable) और भूकंपरोधी (Seismic Resistant) होना आवश्यक था। इस अनिवार्यता ने ही पारंपरिक निर्माण शैलियों जैसे काठ-कुणी को जन्म दिया, जहाँ स्थानीय रूप से उपलब्ध पत्थर और लकड़ी का उपयोग किया गया, जो स्थिरता और स्थायित्व सुनिश्चित करता था। इस प्रकार, उत्तराखंड की वास्तुकला हिमालय की तरह अडिग खड़े रहने के प्राचीन ज्ञान की कहानी कहती है।

II. धार्मिक वास्तुकला का विकास: कत्यूरी शैली और नागर अनुकूलन

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की धार्मिक वास्तुकला मुख्य रूप से कुमाऊं और गढ़वाल के कत्यूरी और चंद राजवंशों के संरक्षण में विकसित हुई, जिसने प्राचीन भारतीय नागर शैली को स्थानीय हिमालयी विशेषताओं के साथ अनुकूलित किया।

2.1. कत्यूरी राजवंश का स्थापत्य योगदान

कत्यूरी राजवंश ने उत्तराखंड की मंदिर वास्तुकला के विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान दिया [2]। बैजनाथ, जिसे पहले कार्तिकेयपुर के नाम से जाना जाता था, 12वीं और 13वीं शताब्दी में कत्यूरी वंश की राजधानी हुआ करता था [3]। इस काल में बने जागेश्वर और बैजनाथ समूह के मंदिर अपनी विशिष्ट नागर शैली और जटिल नक्काशी के लिए प्रसिद्ध हैं [2]।
कत्यूरी शासकों के लिए, मंदिर निर्माण सिर्फ धार्मिक गतिविधि नहीं थी, बल्कि राजनीतिक शक्ति और आध्यात्मिक वैधता स्थापित करने का एक उपकरण था। भव्य मंदिरों का निर्माण कर वे अपनी समृद्धि का प्रदर्शन करते थे, और मंदिरों को शिलालेखों तथा मूर्तियों के माध्यम से वंशावली प्रदर्शित करने का केंद्र बनाया जाता था [2]। यह प्रणाली स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि मंदिर धीरे-धीरे आध्यात्मिक केंद्र होने के साथ-साथ सामाजिक समारोहों, सामुदायिक बैठकों और भूमि के पंजीकरण जैसे स्थानीय प्रशासनिक कार्यों के भी केंद्र बन गए थे [2]।

2.2. प्रमुख स्थापत्य शैलियाँ

उत्तराखंड के मंदिरों में प्राचीन भारतीय नागर शैली के मूल तत्वों को अपनाया गया, लेकिन इसमें स्थानीय पर्यावरणीय आवश्यकताओं और क्षेत्रीय कला परंपराओं के अनुरूप महत्वपूर्ण रूपांतरण किए गए।

2.2.1. नागर शैली का क्षैतिज अनुकूलन

अधिकांश मंदिर नागर शैली की संरचनात्मक शौखिनी का पालन करते हैं, जिसमें शिखर और गोपुर महत्वपूर्ण अंग होते हैं, साथ ही मंदप और गर्भगृह भी महत्वपूर्ण अंग होते हैं [3]। हालांकि, स्थानीय अनुकूलन में क्षैतिज विभाजन लिए अनेक मंजिलें होती थीं, जो द्रविड़ शैली की विशेषताएँ मानी जाती हैं, लेकिन उत्तराखंड में नागर शैली के साथ मिश्रित रूप में पाई जाती हैं [3]।

2.2.2. पीढ़ा शिखर शैली

पीढ़ा शिखर शैली को कुमाऊं हिमालय की एक विशिष्ट देन माना जाता है [4]। इस शैली में, शिखर पिरामिडनुमा बहुमंजिला होते हैं, जिनके निर्माण में पिढ़ाओं (Terraced layers) का उपयोग किया जाता है। शिखर की बनावट ही मंदिर की शैली को निर्धारित करती है। कुमाऊं के अतिरिक्त, गढ़वाल में पलेठी और नारायणकोटी जैसे स्थानों पर भी पीढ़ा शिखर युक्त मंदिर पाए गए हैं [4]।

2.2.3. प्रारंभिक और समतल छत शैली

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

मंदिर वास्तुकला के प्रारंभिक रूप में, संरचनाओं की ऊँचाई कम होती थी। शिखर के स्थान पर केवल चपटी छत का निर्माण किया जाता था, जो द्वारपट्टिका के ऊपर कटे हुए शिलाखंडों को रखकर बनाई जाती थी। छत के केंद्र में एक मध्य कलश या छत्र स्थापित किया जाता था[5]। द्वाराहाट की सूर्य मूर्ति, जो 8वीं से 11वीं शताब्दी की है, इस प्रकार के विकास को दर्शाती है, जहाँ देवता समभंग मुद्रा में पदमासन पर विराजमान हैं[5]।

तालिका ॥.1: उत्तराखंड की मंदिर वास्तुकला की प्रमुख शैलियाँ और विशिष्टताएँ

स्थापत्य शैली	युग/प्रभुत्व	प्रमुख विशेषताएं	उदाहरण स्थल
कत्यूरी/नागर उपशैली	7वीं से 11वीं शताब्दी ईस्वी	ऊँचा शिखर, जटिल नक्काशी, क्षैतिज विभाजन।	जागेश्वर, बैजनाथ, केदारनाथ[2]
पीढ़ा शिखर शैली	प्राचीन काल (क्षेत्रीय अनुकूलन)	पिरामिडनुमा बहुमंजिला शिखर, निर्माण में पिढ़ाओं का प्रयोग।	पलेठी, नारायणकोटी, कुमाऊं के कई मंदिर[4]
प्रारंभिक समतल छत	8वीं शताब्दी (आरंभिक)	कम ऊँचाई, चपटी छत, कटे हुए शिलाखंडों का उपयोग, मध्य कलश।	द्वाराहाट के प्रारंभिक मंदिर[5]

2.3. केस स्टडी: अभेद्यता का रहस्य (केदारनाथ मंदिर)

केदारनाथ मंदिर, जो मंदाकिनी नदी के पास गढ़वाल हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं पर स्थित है[6], उत्तराखंड की वास्तुकला की अलौकिक दृढता का सबसे बड़ा प्रमाण है। स्थानीय मान्यता है कि इसका निर्माण पांडवों ने करवाया था[6]।

2.3.1. विशिष्ट सामग्री का उपयोग

इस मंदिर का निर्माण विशिष्ट, बेहद मजबूत पत्थरों से हुआ है[8]। यह जानना आश्चर्यजनक है कि ये मजबूत पत्थर आसपास के इलाके में उपलब्ध नहीं हैं, जिससे यह सवाल उठता है कि उस समय इन भारी पत्थरों को इतनी दुर्गम ऊंचाई तक कैसे पहुँचाया गया होगा[8]। इन पत्थरों की मजबूती ऐसी है कि इन पर बारिश या बर्फ का कोई असर नहीं होता[8]।

2.3.2. संरचनात्मक चमत्कार

2013 की भीषण आपदा के दौरान, केदारनाथ मंदिर का 95% हिस्सा सुरक्षित रहा, जबकि आसपास का पूरा इलाका तहस-नहस हो गया था[10]। इस अलौकिक बचाव का श्रेय दो प्रमुख वास्तुशिल्पीय तत्वों को दिया जाता है:

1. **भीम शिला:** महाबली भीम द्वारा स्थापित मानी जाने वाली यह चमत्कारी चट्टान मंदिर के पीछे स्थित है[6]। आपदा के दौरान, यह शिला तीव्र जल और मलबे के बहाव को रोकने के लिए एक अवरोधक (Buffer) के रूप में कार्य करती रही, जिससे मंदिर पर सीधा वार नहीं हुआ[8]।
2. **अभिविन्यास और बनावट:** मंदिर की बनावट दक्षिणमुखी है। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि मंदिर किसी अन्य दिशा की तरफ होता, तो तेज बहाव में इसका बच पाना असंभव हो सकता था[8]। यह तथ्य दर्शाता है कि प्राचीन शिल्पकारों को न केवल संरचनात्मक इंजीनियरिंग का ज्ञान था, बल्कि वे क्षेत्र के विशिष्ट भूवैज्ञानिक और जलविज्ञान (Hydrological) जोखिमों से भी भलीभाँति परिचित थे। विशिष्ट पत्थरों का चयन और मंदिर का सटीक अभिविन्यास प्राकृतिक आपदाओं के प्रति सुरक्षा के लिए आवश्यक पूर्वज्ञान और विशेषज्ञता का प्रमाण है, जो आधुनिक विज्ञान को भी चुनौती देता है[10]।

III. पारंपरिक आवासीय वास्तुकला और हिमालयी भूकंपरोधी ज्ञान

उत्तराखंड की आवासीय वास्तुकला, जिसे वर्नाक्यूलर आर्किटेक्चर कहा जाता है, पर्यावरण के प्रति अनुकूलन और आंतरिक रूप से विकसित भूकंपरोधी तकनीकों पर आधारित है। ये पारंपरिक भवन निर्माण शैलियाँ केवल आश्रय प्रदान नहीं करती हैं, बल्कि ये कलात्मक और प्रकृति के अनुकूल भी हैं[11]।

3.1. भूकंपरोधी निर्माण तकनीकें

हिमालय क्षेत्र में भूकंप का खतरा हमेशा बना रहता है। इस चुनौती का सामना करने के लिए, स्थानीय शिल्पकारों ने ऐसी शैलियाँ विकसित कीं जो संरचना को क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर दोनों ताकतों के खिलाफ लचीलापन प्रदान करती हैं।

3.1.1. काठ-कुणी और कोटी बनाल शैली

'काठ-कुणी' शैली और 'कोटी बनाल' शैली पारंपरिक भवन निर्माण की पहचान हैं, जिन्हें उनकी उच्च भूकंपरोधी क्षमता के लिए जाना जाता है[12]। इन शैलियों में, लकड़ी के बीमों (Timber Lacing) को पत्थर की चिनाई के साथ समन्वयित किया जाता है। लकड़ी की यह इंटरलॉकिंग संरचना संरचनात्मक दृढ़ता प्रदान करती है, जिससे भूकंप के झटकों के दौरान भवन ढहने के बजाय लचीला बना रहता है। उत्तरकाशी के कोटी बनाल गांव के भवन 1000 वर्षों से अधिक समय से हिमालय की तरह खड़े हैं, जो इन पारंपरिक तकनीकों की प्रभावकारिता का अकाट्य प्रमाण है[12]।

3.2. स्थानीय सामग्री और स्थिरता

पारंपरिक वास्तुकला में स्थिरता (Sustainability) एक अंतर्निहित सिद्धांत था, जो स्थानीय संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग और चक्रीय अर्थव्यवस्था पर आधारित था।

3.2.1. सामग्री का पुनर्चक्रण

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

स्थानीय निर्माण में लकड़ी (जैसे देवदार) और स्लेट पत्थरों का उपयोग होता था, जो न केवल थर्मल इन्सुलेशन प्रदान करते थे, बल्कि उन्हें आसानी से पुनः उपयोग भी किया जा सकता था। यह पाया गया है कि पुराने घरों के निर्माण में उपयोग की गई 40% से 50% सामग्री (लकड़ी और पत्थर) को नए घरों में पुनः उपयोग किया जा सकता है [13]। यह स्थिरता और लागत प्रभावी निर्माण का एक सफल मॉडल है।

3.2.2. पारंपरिक ज्ञान का संरक्षण

पारंपरिक भवन निर्माण शैली आधुनिक "टिकाऊ विकास" सिद्धांतों का एक व्यावहारिक प्राचीन रूप है। यदि ये पारंपरिक घर खत्म हो जाते हैं, तो उनके निर्माण के पीछे का महत्वपूर्ण **ज्ञान, भावना और कहानियां** विलुप्त हो जाएंगी [13]। इस ज्ञान को पुनर्जीवित करने के लिए, आधुनिक तकनीकों के साथ पारंपरिक सुविधाओं का मिश्रण (मॉडर्न वर्जन का ब्लेंड) आवश्यक है। आज, लकड़ी के स्थान पर वैकल्पिक सामग्री जैसे मडब्रिक (Mudbrick) और तेजी से बढ़ने वाले बैंबू (Bamboo) का उपयोग किया जा रहा है [13]।

तालिका III.1: पारंपरिक आवासीय वास्तुकला की स्थिरता और भूकंपरोधी क्षमता

वास्तुकला विशेषता	सामग्री/प्रौद्योगिकी	उद्देश्य/लाभ	संरक्षण संदर्भ
काठ-कुणी/कोटी बनाल	लकड़ी के बीम और पत्थर की चिनाई	संरचनात्मक स्थायित्व, उच्च भूकंपरोधी क्षमता, लचीलापन।	1000 वर्षों तक संरचना का खड़ा रहना [12]
स्थानीय पत्थरों का चयन	स्थानीय पत्थर (स्लेट) और देवदार की लकड़ी।	थर्मल इन्सुलेशन, शीतकालीन मौसम से सुरक्षा।	नेचर के अनुकूल डिजाइन [11]
चक्रीय अर्थव्यवस्था	पुराने मटेरियल का 40-50% पुनर्चक्रण।	लागत में कमी, कचरा प्रबंधन, टिकाऊ विकास।	ज्ञान और भावनात्मक संरक्षण [13]

IV. उत्तराखंड की लोक कलाएँ: अनुष्ठान, प्रतीकवाद और पहचान

उत्तराखंड की कलाएँ, विशेष रूप से चित्रकला, यहां के सांस्कृतिक अनुष्ठानों और पहचान का अभिन्न अंग हैं। इन कलाओं में क्षेत्रीय शैलियों, जैसे कुमाऊं की ऐंपण और पिथौड़ा, का प्रमुख स्थान है।

4.1. ऐंपण कला: अनुष्ठानिक पवित्रता और आधुनिक पहचान

ऐंपण (Aipan) कुमाऊं क्षेत्र की पारंपरिक लोक कला है। इसका नाम संस्कृत शब्द 'अर्पण' (लिखाई) से लिया गया है[14]। यह कला मुख्य रूप से उत्तराखंड की महिलाओं द्वारा घरों की दीवारों, फर्श, चौखटों और पूजा थाली पर बनाई जाती है[14]।

4.1.1. तकनीक और सामग्री

ऐंपण बनाने की प्रक्रिया सरल लेकिन अनुष्ठानिक है। सबसे पहले, एक चिकनी सतह पर गीली गेरू मिट्टी का लेप लगाया जाता है, जिसे सूखने पर लाल आधार रंग प्राप्त होता है। इसके बाद, उबले हुए चावल को पानी के साथ पीसकर एक सफेद पेस्ट तैयार किया जाता है, जिसे 'बिस्वार' के नाम से जाना जाता है[14]। कलाकार अपनी तर्जनी, अनामिका और मध्यमा उंगलियों की मदद से इस बिस्वार से पारंपरिक डिजाइन बनाते हैं। इसका उपयोग जन्म, जनेऊ, शादी और मृत्यु जैसे सभी महत्वपूर्ण पूजा, त्योहारों और समारोहों के दौरान शुभता के प्रतीक के रूप में किया जाता है[14]।

4.1.2. राष्ट्रीय मंच पर पहचान

ऐंपण कला को आधुनिक बाजार और नीतिगत समर्थन के माध्यम से पुनर्जीवित किया गया है। सितंबर 2021 में इस कला को भौगोलिक संकेतक (GI Tag) प्राप्त हुआ, जिसने इसकी मौलिकता और विशिष्टता की पुष्टि की, साथ ही इसे वैश्विक मंच पर पहचान दिलाई[15]। इसकी बढ़ती प्रतिष्ठा का प्रमाण यह है कि 26 जनवरी 2023 को कर्तव्य पथ पर उत्तराखंड की झांकी का मुख्य विषय ऐंपण आर्ट था[15]। इस कला को सहेजने और संवारने का सबसे बड़ा श्रेय यहां की महिलाओं को जाता है[15]।

4.2. पिथौड़ा चित्रकला

पिथौड़ा एक अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक भित्ति चित्रकला शैली है, जो अनुष्ठानिक संदर्भों में देवताओं के आह्वान के लिए प्रयोग की जाती है। इन चित्रों में घोड़े (Horses) प्रमुख प्रतीकों में से एक होते हैं। पिथौड़ा पेंटिंग में पेड़ की डालियों और पत्तियों में भी सफेद रंग के कंट्रास्ट और डॉट डॉट लाइनों का उपयोग किया जाता है[16]।

तालिका IV.1: उत्तराखंड की प्रमुख लोक कलाएँ

कला रूप	क्षेत्रीय संबंध	सामग्री/उपकरण	सांस्कृतिक महत्व
ऐंपण (Aipan)	कुमाऊं	गेरू मिट्टी और बिस्वार (चावल का पेस्ट), उंगली।	अनुष्ठानिक पवित्रता, शुभता, राष्ट्रीय पहचान का प्रतीक[14]
पिथौड़ा (Pithora)	कुमाऊं/गढ़वाल	प्राकृतिक रंग, दीवारों पर।	देवताओं का आह्वान, कथात्मक कला, घोड़े प्रमुख प्रतीक[16]

V. उत्कृष्ट शिल्प और धातु कला: ताम्र शिल्प का उत्थान और पतन

Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की कलात्मक विरासत में शिल्प कला का महत्वपूर्ण योगदान है, जिसमें धातु (तांबा) और काष्ठ (लकड़ी) शिल्प प्रमुख हैं।

5.1. ताम्र शिल्प (Copper Craft) का ऐतिहासिक संदर्भ

अल्मोड़ा को पारंपरिक रूप से 'ताम्र नगरी' के रूप में जाना जाता था, जहाँ टमटा समुदाय पीढ़ियों से ताम्र शिल्प में विशेषज्ञता रखता था [17]। इस शिल्प के तहत धार्मिक और घरेलू दोनों तरह के उत्पाद बनाए जाते थे, जिनमें विवाह में दी जाने वाली तांबे की गागर शुभता का प्रतीक मानी जाती थी [17]।

5.1.1. पतन और औपनिवेशिक प्रभाव

18वीं सदी में ब्रिटिश शासन के आगमन ने इस पारंपरिक शिल्प पर गहरा नकारात्मक प्रभाव डाला। अंग्रेजों ने स्थानीय तांबे की खदानों को बंद कर दिया और इंग्लैंड से तांबा आयात कर स्थानीय बाजार में थोप दिया [17]। इस औपनिवेशिक आर्थिक नीति ने पीढ़ियों से चले आ रहे इस स्थानीय व्यवसाय को लगभग ठप कर दिया। जो व्यवसाय कभी सैकड़ों परिवारों का भरण-पोषण करता था, वह अब गिने-चुने कारीगरों तक ही सीमित रह गया है, क्योंकि बाजार खत्म हो गया है और खरीदारों की कमी है [17]। ताम्र शिल्प का पतन स्थानीय कला और अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक नीतियों के दूरगामी नकारात्मक प्रभावों का स्पष्ट उदाहरण है, जहाँ राजनीतिक निर्णय ने सांस्कृतिक विरासत को समाप्त करने का कार्य किया।

5.1.2. पुनरुद्धार के प्रयास

आज, कुछ युवा इस पुश्तैनी कला की ओर लौट रहे हैं और इसे आधुनिक बाजार से जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। वे ऑनलाइन प्लेटफार्मों, हस्तशिल्प मेलों और डिजाइन में नए प्रयोगों का उपयोग कर रहे हैं [17]। कारीगर गागर जैसे पारंपरिक बर्तनों को उत्तराखंड के 'राज्य बर्तन' के रूप में पहचान दिलाने का प्रयास कर रहे हैं [18]। यह दर्शाता है कि पारंपरिक कलाओं को बचाने के लिए उन्हें न केवल सांस्कृतिक महत्व की आवश्यकता है, बल्कि उन्हें एक मजबूत आधुनिक वाणिज्यिक पहचान और बाजार लिंकेज की भी आवश्यकता है ताकि यह कला फिर से ताम्र नगरी की पहचान बन सके [17]।

5.2. काष्ठ शिल्प और पाइन क्राफ्ट

उत्तराखंड में काष्ठ (लकड़ी) पर नक्काशी भी एक महत्वपूर्ण शिल्प है, जिसका उपयोग मंदिरों, दरवाजों और घरों की आंतरिक सज्जा में होता है। नैनीताल के आसपास 'पाइन क्राफ्ट' एक विशिष्ट स्थानीय कला के रूप में उभर रही है। इस शिल्प में जंगल से प्राप्त व्यर्थ पाइन और नदियों से बहकर आने वाली लकड़ियों को इकट्ठा करके कलात्मक वस्तुएं तैयार की जाती हैं। इस पुनर्चक्रण-आधारित शिल्प को पर्यटक बहुत पसंद करते हैं [19]।

VI. कला और वास्तुकला में सांस्कृतिक-पारिस्थितिक समन्वय (Eco-Cultural Synthesis)

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की कला और वास्तुकला का सबसे विशिष्ट और गहरा पहलू प्रकृति, संस्कृति और अध्यात्म का परस्पर जुड़ाव है। यह समन्वय स्थायी जीवनशैली (Sustainable Livelihoods) का एक प्राचीन मॉडल प्रस्तुत करता है।

6.1. जल प्रबंधन प्रणालियों की पवित्रता

हिमालयी समुदायों ने सदियों से जल संरक्षण की एक समृद्ध पारंपरिक विरासत विकसित की है[20]। ये प्रणालियाँ स्थानीय पारिस्थितिकी और जल उपलब्धता के अनुरूप थीं। इनमें नौले (सीढ़ीदार कुएं), धारे (प्राकृतिक झरने), गूल (छोटी नहरें), खाल (टैंक), और घराट (पानी से चलने वाली चक्कियाँ) प्रमुख हैं, जो मुख्य रूप से वर्षा जल संचयन और भूजल पुनर्भरण पर केंद्रित थीं[20]।

6.1.1. जल स्रोतों का धार्मिक संरक्षण

पारंपरिक रूप से, जनजातीय समुदायों में जल स्रोतों को केवल संसाधन के रूप में नहीं देखा जाता था, बल्कि उन्हें **मंदिर के समान पवित्र** माना जाता था। इन स्रोतों के पास अक्सर देव मंदिर और देव प्रतिमाएँ स्थापित की जाती थीं[20]। धार्मिक आस्था और पवित्रता का यह भाव सामुदायिक संरक्षण तंत्र के रूप में कार्य करता था, जो लोगों को इन स्रोतों को साफ रखने और उनका सम्मान करने के लिए विवश करता था। इस प्रकार, धार्मिक आस्था और सामुदायिक स्वामित्व ने जल संसाधनों का स्थायी प्रबंधन सुनिश्चित किया[20]।

यह प्रणाली आधुनिक पर्यावरण कानूनों की तुलना में अधिक प्रभावी थी क्योंकि यह धार्मिक आस्था और सामुदायिक स्वामित्व के माध्यम से पारिस्थितिकी को बनाए रखने का एक सफल सामाजिक-सांस्कृतिक मॉडल था। हालांकि, यह दुखद है कि आधुनिक विकास और जलवायु परिवर्तन के कारण लगभग 12 हजार जल स्रोत सूख गए हैं, जो इस पारंपरिक प्रणाली की संवेदनशीलता और जल संकट की गंभीरता को रेखांकित करता है[20]।

6.2. लोक प्रदर्शन कलाएँ और सामाजिक जुड़ाव

कला न केवल भौतिक रूप में, बल्कि मौखिक परंपराओं और प्रदर्शन कलाओं के माध्यम से भी संस्कृति का संरक्षण करती है।

6.2.1. नृत्य और संगीत

उत्तराखंड के लोक नृत्य, जैसे गढ़वाल और कुमाऊं में प्रसिद्ध **झोड़ा** और समूह में किया जाने वाला **चांचड़ी**, स्थानीय संस्कृति को दर्शाते हैं[1]। **छोलिया लोकनृत्य** कुमाऊं का एक प्रसिद्ध वीरता का लोकनृत्य है, जिसका इतिहास लगभग 1000 साल पुराना है[21]। इसे पांडव नृत्य का हिस्सा भी माना जाता है। छोलिया नृत्य शादी-विवाह जैसे शुभ कार्यों पर आयोजित किया जाता है, जिसमें मसकबीन, नगाड़े, झंकोरा और रणसिंगा जैसे पारंपरिक वाद्य यंत्रों का उपयोग होता है[21]।

6.2.2. प्रकृति के साथ सांस्कृतिक रिश्ता

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की संस्कृति और प्रकृति का गहरा जुड़ाव लोक कथाओं और जीवन शैली में दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, कुछ लोक कथाओं में पेड़ों की जड़ों को शिव की जटाओं के समान माना जाता है, जिन्होंने गंगा को अपने में समाहित कर लिया था[22]। यह दृष्टिकोण मानव और प्रकृति के बीच के अटूट रिश्ते को दर्शाता है, जहाँ संसाधनों को फेंकने या दूषित करने के बजाय, उन्हें सम्मान और जिम्मेदारी के साथ उपयोग किया जाता है, जो स्थायी जीवनशैली का मूल है।

VII. संरक्षण, आधुनिकता और भविष्य की दिशा

उत्तराखंड की कला और वास्तुकला विरासत को भविष्य की पीढ़ियों के लिए संरक्षित करने हेतु वर्तमान चुनौतियों और संरक्षण प्रयासों का मूल्यांकन आवश्यक है।

7.1. संरक्षण की आवश्यकता और चुनौतियाँ

आधुनिक निर्माण की बढ़ती प्रवृत्ति और पश्चिमी वास्तुशिल्प डिजाइनों के प्रभाव के कारण पारंपरिक निर्माण तकनीकें (जैसे काठ-कुणी) और उनके पीछे का ज्ञान विलुप्त होने के कगार पर है[13]। पारंपरिक कलाओं को आधुनिकता की ओर बढ़ते हुए भी, उनकी **मूल भावना, प्रतीकों और संस्कारों** को संरक्षित करना अत्यंत महत्वपूर्ण है[15]।

7.2. टिकाऊ विकास के लिए समाधान

उत्तराखंड के संदर्भ में, टिकाऊ विकास का मार्ग अतीत के ज्ञान को वर्तमान की आवश्यकताओं के साथ एकीकृत करने में निहित है:

1. **पारंपरिक-आधुनिक ब्लेंड:** पारंपरिक घरों के भूकंपरोधी और प्रकृति-अनुकूल 'प्राचीन फीचर्स' को आधुनिक सुविधाओं के साथ मिलाकर एक व्यवहार्य डिजाइन तैयार करना[13]। इससे सांस्कृतिक ज्ञान का संरक्षण होगा और घर आधुनिक जरूरतों को भी पूरा कर पाएंगे।
2. **सामुदायिक जल प्रबंधन का पुनरुत्थान:** आधुनिक जल संकट का समाधान केवल बड़ी इंजीनियरिंग परियोजनाओं में नहीं है, बल्कि यह पारंपरिक, समुदाय आधारित जल प्रबंधन प्रणालियों (नौले, धारे) के पुनरुत्थान और सांस्कृतिक मूल्यों को एकीकृत करने में निहित है[20]। सामुदायिक भागीदारी के बिना जल संरक्षण की नीतियाँ सफल नहीं हो सकती हैं।
3. **कला का नवाचार और विपणन:** ऐपण कला की सफलता (जीआई टैग) से प्रेरणा लेते हुए, ताम्र शिल्प जैसे अन्य पारंपरिक शिल्पों को आधुनिक डिजाइन और ऑनलाइन प्लेटफार्मों के माध्यम से बाजार लिंकेज और राष्ट्रीय पहचान दिलाने की आवश्यकता है[17]।

7.3. निष्कर्ष: विरासत और पहचान का प्रतीक

उत्तराखंड की कला और वास्तुकला इस बात का प्रमाण है कि मानव ने किस प्रकार कठिनतम भौगोलिक परिस्थितियों में भी उत्कृष्टता प्राप्त की है। धार्मिक वास्तुकला में कत्यूरी शासकों का नागर शैली का रूपांतरण और केदारनाथ मंदिर की अभेद्य संरचना प्राचीन भारतीय शिल्पकारों के वैज्ञानिक ज्ञान और आध्यात्मिक निष्ठा का संगम है। आवासीय वास्तुकला में निहित काठ-कुणी जैसी भूकंपरोधी तकनीकें

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

और जल स्रोतों को मंदिर के समान पवित्र मानने की परंपराएं स्थायी जीवनशैली के लिए एक व्यावहारिक ब्लूप्रिंट प्रस्तुत करती हैं।

यह विरासत न केवल ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण है, बल्कि यह हमें सिखाती है कि कैसे प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करके टिकाऊ, लचीले और कलात्मक समाज का निर्माण किया जा सकता है। इस अमूल्य धरोहर का संरक्षण, इसके पीछे के ज्ञान और कहानियों को सहेज कर, उत्तराखंड की पहचान और भविष्य की स्थिरता दोनों के लिए अपरिहार्य है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

त्यौहार और परंपराएँ: उत्तराखंड की मौखिक कला विरासत (गीत, जागर, नृत्य और नाटक)

प्रस्तावना: मौखिक परंपराओं का सैद्धांतिक और सांस्कृतिक आधार

1.1. मौखिक परंपराओं की परिभाषा और प्रासंगिकता

उत्तराखंड की सांस्कृतिक पहचान का मूल आधार उसकी मौखिक परंपराओं में निहित है, जिसे व्यापक रूप से "लोक साहित्य" के नाम से जाना जाता है। ये परंपराएँ केवल मनोरंजन का साधन नहीं हैं, बल्कि ये समाज के इतिहास, धार्मिक जीवन, नैतिक शिक्षा और सामूहिक स्मृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित करने वाले सशक्त संवाहक हैं। ये कलाएँ स्थानीय त्योहारों, अनुष्ठानों और दैनिक जीवन के चक्रों से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं, जिससे ये हिमालयी क्षेत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को बनाए रखती हैं [1]।

1.2. लोक साहित्य की विशिष्टताएँ और अकादमिक विश्लेषण

लोक साहित्य की प्रकृति को समझने के लिए, अकादमिक विशेषज्ञों ने इसकी विशेषताओं को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है। डॉ. देव सिंह पोखरिया के अनुसार, लोक साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि यह **श्रुति-परम्परा पर आधारित** होता है, जिसका अर्थ है कि यह मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी तथा कंठानुकंठ परम्परित होता रहता है [1]। इस विधा में **नैसर्गिक सहजता एवं अकृत्रिमता** का समावेश होता है, क्योंकि इसमें शिल्पगत शास्त्रीय आग्रह नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, लोक साहित्य में **गेयता एवं रसात्मकता** का प्राधान्य रहता है, जो इसे लोकमानस से सहजता से जोड़ता है [1]।

इन विशेषताओं के बीच, एक महत्वपूर्ण दार्शनिक पहलू यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा सृजित होकर भी इसमें **निर्वैयक्तिकता** होती है [1]। इसका अर्थ है कि एक बार जब कोई गीत या कथा समुदाय में प्रवेश कर जाती है, तो उसकी व्यक्तिगत पहचान गौण हो जाती है, और वह सामुदायिक संपत्ति बन जाती है। हालाँकि, यह निर्वैयक्तिकता आधुनिक युग में संरक्षण की चुनौतियों से टकराती है। जैसे-जैसे लोक कलाओं पर बाहरी प्रभाव बढ़ रहा है, उनकी लचीली प्रकृति (fluidity) और सामुदायिक स्वामित्व (निर्वैयक्तिकता) उन्हें विलोपन (erasure) के प्रति संवेदनशील बना देता है [2]। इसलिए, आज पद्मश्री प्रीतम भरतवाण जैसे व्यक्तिगत संरक्षकों का उभरना आवश्यक हो गया है, जो जागर जैसी परंपराओं को दस्तावेज़ीकरण और संस्थागत समर्थन (जैसे 'जागर ढोल सागर एकेडमी') के माध्यम से सुरक्षित करते हैं [3]। यह विरोधाभास दर्शाता है कि संरक्षण के आधुनिक प्रयास, जो व्यक्तिगत नेतृत्व और मानकीकरण की मांग करते हैं, लोककला के मूल, सामुदायिक और सहज स्वरूप के बीच तनाव उत्पन्न करते हैं।

1.3. भौगोलिक और सांस्कृतिक संदर्भ: कुमाऊँ बनाम गढ़वाल

उत्तराखंड की मौखिक परंपराएँ गढ़वाल और कुमाऊँ नामक दो प्रमुख भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित हैं। यद्यपि दोनों क्षेत्र हिमालय को पृष्ठभूमि के रूप में साझा करते हैं, उनकी संस्कृति, इतिहास और बोली में विशिष्टताएँ हैं [4]। उदाहरण के लिए, कुमाऊँनी बोली में 'स' के स्थान पर 'श' का प्रयोग अधिक होता है, और इस पर अवधी बोली का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से पाया जाता है [5]। इसके विपरीत, गढ़वाल

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

अपने प्रतिष्ठित मंदिरों के कारण तीर्थ पर्यटन के लिए एक प्रमुख आकर्षण केंद्र रहा है, जो इसकी अनुष्ठानिक कलाओं (जैसे पांडव लीला) को प्रभावित करता है[4]। इन क्षेत्रीय भिन्नताओं—जो जलवायु (कुमाऊँ में हल्की, गढ़वाल में विविध) और भूभाग (ट्रैकिंग बनाम तीर्थ) में भी दिखाई देती हैं—के बावजूद, ये कला रूप अंततः एक साझा 'उत्तराखंडी' सांस्कृतिक विरासत का निर्माण करते हैं, जहाँ दोनों क्षेत्रों की मौखिक परंपराएँ एक-दूसरे को समृद्ध करती हैं[4]।

खंड २: त्यौहारों में मौखिक कलाओं का समावेश और गीत परंपरा

मौखिक कलाएँ, विशेष रूप से गीत, उत्तराखंड में त्यौहारों के अनुष्ठानिक ढाँचे के अभिन्न अंग हैं। ये पर्व ऋतु चक्र और कृषि संबंधी गतिविधियों से जुड़े होते हैं, जिससे गीतों का प्रदर्शन एक निर्धारित वार्षिक कैलेंडर का पालन करता है।

2.1. पर्वों का अनुष्ठानिक ढाँचा और कथात्मक पृष्ठभूमि

2.1.1. फूलदेई: वसंत का बाल पर्व

फूलदेई उत्तराखंड में वसंत ऋतु का स्वागत करने वाला एक प्रसिद्ध लोकपर्व है, जिसे बाल पर्व के रूप में भी जाना जाता है[6]। यह पर्व चैत्र मास में मनाया जाता है, जहाँ छोटे बच्चे वन से ताज़े और रंग-बिरंगे फूल तोड़कर लाते हैं, जिनमें विशेष रूप से प्योंली और बुरांश के फूलों का प्रयोग होता है[6]। इस दिन गृहणियाँ सुबह उठकर चौखट को गोबर मिट्टी से लीपकर शुद्ध करती हैं[6]। बच्चे फूलकंडी और चावल लेकर घर-घर जाते हैं और देहरी पर फूल डालते हुए मंगल गीत गाते हैं[7]।
इन गीतों के बोलों में सामूहिक कल्याण और कृषि-आधारित समाज की आशाएँ निहित होती हैं। बच्चे गाते हैं: "फूल देई, छम्मा देई, देणी द्वार, भर भकार, ये देली स बारम्बार नमस्कार, फूले द्वार..."[7]। इन पंक्तियों का सार है कि देहरी फूलों से भरपूर, मंगलकारी और क्षमाशील हो, और घर के भंडार (भकार) अन्न से भरे रहें। इस पर्व के दौरान घोघा माता, जिन्हें 'फूलों की देवी' माना जाता है, की भी पूजा की जाती है[7]। फूलदेई का पर्व लोकगीतों के गायन के अंदाज़ में भी परिवर्तन लाता है: होली के बाद लोग इस दिन से **ऋतुरैंण** और **चैती गायन** में डूबने लगते हैं[7]। ढोल-दमाऊ बजाने वाले कलाकार (बाजगी, औली या ढोली) भी इस मौके पर गांव के हर घर के आंगन में जाकर गायन करते हैं और बदले में अनाज और दक्षिणा प्राप्त करते हैं[7]।

2.1.2. हरेला: हरियाली और समृद्धि का पर्व

हरेला पर्व श्रावण संक्रांति को मनाया जाता है और इसे शिव-पार्वती के मिलन का प्रतीक भी माना जाता है[8]। यह पर्व प्रकृति को धन्यवाद देने और पर्यावरण संतुलन बनाए रखने की प्रेरणा देता है[8]। यह त्यौहार कृषि चक्र से जुड़ा है, जहाँ 10 दिन पहले जौ, राई, गोहद की दाल, मक्का आदि बोए जाते हैं[8]। नौवें दिन इन्हें काटा जाता है और इनकी गुणवत्ता को आने वाले साल में समृद्धि और फसल के फलने-फूलने का प्रतीक माना जाता है[8]।
अनुष्ठान के दिन, हरेला को सबसे पहले इष्ट देवों को अर्पित किया जाता है, फिर घर के सदस्यों के सिर पर रखा जाता है। इस दौरान बड़े बुजुर्ग जो आशीर्वाद देते हैं, वह लोकगीत के रूप में होता है: "लाग

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

हरयाव, लाग दशे, लाग बगवाव। जी रये जागी रया... दुब जस फैल जाए, बेरी जस फली जाया। हिमाल में ह्युं छन तक, गंगा ज्यूं में पाणी छन तक, यो दिन और यो मास भेंटने रया।" [9]। यह आशीर्वाद प्रकृति के प्रति श्रद्धा, टिकाऊ कृषि पद्धतियों और सामुदायिक एकता के गहरे महत्व को उजागर करता है। यह स्पष्ट करता है कि त्यौहार केवल धार्मिक नहीं हैं, बल्कि ये मौखिक कलाओं के प्रदर्शन के लिए एक आवश्यक कैलेंडर-निर्धारण का कार्य करते हैं, जिससे लोकगीतों का प्रवाह ऋतुओं और कृषि चक्र पर निर्भर करता है [9]।

2.2. लोकगीतों का वर्गीकरण और भावनात्मक गहराई

उत्तराखंड के लोकगीत विविध प्रकार के हैं, जिन्हें विषय वस्तु के आधार पर ऋतु-गीत, संस्कार-गीत (मांगल) और भावनात्मक गीत में वर्गीकृत किया जा सकता है।

2.2.1. खुदेड़ गीत: विरह और स्मृति

खुदेड़ गीत उत्तराखंड के लोकजीवन में रचे-बसे भावनात्मक गीतों का एक महत्वपूर्ण वर्ग है। ये मुख्य रूप से उन महिलाओं द्वारा गाए जाते हैं जो मायके की याद करती हैं और अपनी विरह कथा को व्यक्त करती हैं [10]। इन गीतों की विषय वस्तु में प्रकृति का गहरा समावेश होता है। महिलाएं प्रकृति (जो बासंती परिधान ओढ़कर दुल्हन जैसी सजी होती है) और लोक के माध्यम से अपनी भावनाओं के ताने-बाने बुनती हैं। खुदेड़ गीत, चैती गीत और भिटोली के गीत पहाड़ी महिलाओं के एकाकीपन और भावनात्मक निर्वहन की आवश्यकता को दर्शाते हैं [10]।

2.2.2. चौंफला/चौपती: सामूहिक नृत्य और गायन

चौंफला या चौपती, जिसे चुर्रा या लामड़ी भी कहा जाता है, एक सामूहिक नृत्य-गीत शैली है [11]। यह नृत्य-गीत विशेष रूप से गढ़वाल के रवाई और जौनपुर क्षेत्रों में माघ से चैत्र मास तक सामूहिक रूप से गाया और प्रदर्शित किया जाता है [11]। सामूहिक प्रदर्शन सामाजिक समरसता और एकजुटता को बढ़ावा देता है, जो पहाड़ी समाज में मेल-मिलाप का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।
निम्नलिखित सारणी प्रमुख उत्तराखंडी त्यौहारों में मौखिक परंपराओं के संदर्भ को प्रस्तुत करती है:
सारणी 2: प्रमुख उत्तराखंडी त्यौहारों में मौखिक परंपराओं का संदर्भ

उत्सव/पर्व	समारोह का समय	जुड़ी हुई मौखिक कला	सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व	संदर्भ स्रोत
फूलदेई	चैत्र मास (वसंत का आरंभ)।	मंगल गीत ('फूल देई, छम्मा देई'), ऋतुरैंण और चैती गायन का आरंभ।	बाल पर्व, वसंत का स्वागत, समृद्धि और क्षमा की कामना।	6
हरेला	श्रावण संक्रांति।	आशीर्वाद गीत ('लाग हरयाव...'), लोकगीत	पर्यावरण संतुलन, कृषि समृद्धि (फसल का	8

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

		गायन, शिव परिवार की पूजा।	फलना-फूलना) का प्रतीक।	
रम्माण	बैसाखी (अप्रैल) के बाद (लगभग 10-15 दिन)।	मुखौटा नृत्य, गायन (बिना संवाद का नाट्य), 18 धुनें।	धार्मिक पुनर्जागरण, रामायण प्रसंग, यूनेस्को मान्यता प्राप्त।	[12]
पांडव लीला	शीतकाल (नवंबर-जनवरी)।	अनुष्ठानिक नृत्य, ढोल की विशिष्ट थाप पर पश्वा अवतरण।	महाभारत कथा का पुनर्मंचन, देवताओं और अस्त्र-शस्त्रों की पूजा-अर्चना।	[15]

खंड ३: अनुष्ठानिक आह्वान और सामाजिक संचार: जागर परंपरा

जागर उत्तराखंड की सबसे गहन और अनुष्ठानिक मौखिक परंपराओं में से एक है। यह केवल एक गायन शैली नहीं है, बल्कि एक अनुष्ठान है जिसका उद्देश्य मानव और दिव्य लोक के बीच सीधा संवाद स्थापित करना है।

3.1. जागर की उत्पत्ति और उद्देश्य

जागर गायन का प्राथमिक उद्देश्य देवता या आराध्य को धरती पर आह्वान करना है, जिससे भक्तों को ईश्वर के करीब होने का एहसास मिलता है [3]। यह विधा वीर गाथाओं, स्थानीय देवी-देवताओं और ऐतिहासिक नायकों की कथाओं को लयबद्ध रूप से प्रस्तुत करती है।

इस अनुष्ठान का केंद्रीय संवाहक **जागरिया** (जागर गायक) होता है, जो ढोल वादकों के साथ मिलकर गाता है। गायन और वादन की विशेष लय पर देवता का पश्वा (एक मानव माध्यम) पर अवतरण होता है। इसके माध्यम से, जागर देवता के हस्तक्षेप को सुनिश्चित करता है, जो समस्याओं का निवारण, भविष्यवाणियाँ और आशीर्वाद प्रदान करता है [17]।

3.2. जागर की प्रदर्शन शैली और वादन

जागर गायन ढोल-दमाऊ की विशिष्ट लय पर आधारित होता है। ढोल की थापें यहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये ही देवता के अवतरण को नियंत्रित करती हैं, ठीक उसी तरह जैसे पांडव लीला में विशेष थाप पर विशेष पांडव पश्वा का अवतरण होता है [16]। यह वादन, गायन और अनुष्ठान का एक जटिल मिश्रण है, जो सामूहिक ध्यान और आध्यात्मिक ऊर्जा का केंद्र बनता है। पद्मश्री प्रीतम भरतवाण जैसे कलाकारों ने जागर को वैश्विक मंच पर पहचान दिलाई है और इसके संरक्षण के लिए 'जागर ढोल सागर एकेडमी' जैसी संस्थाओं की स्थापना को सरकारी मदद मिली है [3]।

3.3. आधुनिक संदर्भ में जागर: व्यंग्य और चुनौती

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

हालांकि जागर को पारंपरिक रूप से एक कठोर अनुष्ठान माना जाता रहा है, समकालीन जागरिया ने इस विधा को सामाजिक और राजनीतिक टिप्पणी के मंच के रूप में भी अनुकूलित किया है। इस विधा के आधुनिक रूप में सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्य (सटायर) किया जाता है[17]।
यह दृष्टिकोण एक दार्शनिक प्रश्न उठाता है: "देवता पुराने होते हैं तो उनके जागर भी पुराने होने चाहिए... पर मनखी (मनुष्य) तो हर साल नए-नए पैदा हो रहे, हर दिन जमाना बदल के जागर।" यह व्यंग्य इस बात पर केंद्रित है कि पारंपरिक ज्ञान (देवताओं) को जगाना आसान है, लेकिन आधुनिक, जटिल मनुष्यों (मनखी) को जगाना कठिन है[17]। इस प्रकार, जागर परंपरा ने सफलतापूर्वक अपनी भूमिका को केवल अनुष्ठानिक आह्वान तक सीमित न रखते हुए, समकालीन सामाजिक समीक्षा के मंच तक विस्तारित किया है। यह इसकी लचीलापन और निरंतर प्रासंगिक बने रहने की क्षमता का प्रमाण है।

खंड ४: गति और शक्ति का प्रदर्शन: लोक नृत्य परंपरा

उत्तराखंड के लोक नृत्य इस क्षेत्र की वीरता, भक्ति और प्राकृतिक सुंदरता को दर्शाते हैं। इन्हें मार्शल, एक्रोबेटिक और सामूहिक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

4.1. छोलिया नृत्य: युद्ध कला का प्रतीकात्मक मंचन

छोलिया नृत्य मुख्य रूप से कुमाऊँ क्षेत्र की एक पुरानी और महत्वपूर्ण विरासत है[18]। यह नृत्य अपनी मार्शल (युद्ध कला) प्रकृति के लिए जाना जाता है और युद्ध के प्रतीक के रूप में अस्तित्वमान रहा है[19]।
नर्तक पारंपरिक वेशभूषा में होते हैं और उनके हाथों में **ढाल और तलवारें** रहती हैं। प्रदर्शन शैली युद्धरत सैनिकों के दांव-पेंचों की नकल करती है, जिसमें छल के माध्यम से शत्रु को परास्त करने का प्रतीकात्मक अभिनय शामिल होता है[19]। यद्यपि इसकी उत्पत्ति युद्ध से जुड़ी है, वर्तमान समय में छोलिया नृत्य विवाह समारोहों, धार्मिक शोभा यात्राओं और अन्य शुभ आयोजनों में अनिवार्य रूप से शामिल होता है[20]। यह कलात्मक अंग है जिसे लगातार सरकारी और गैर-सरकारी प्रोत्साहन दिए जाने की आवश्यकता है ताकि यह भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रह सके[18]।

4.2. लांगविर नृत्य: साहस और एक्रोबेटिक कौशल

लांगविर नृत्य गढ़वाल क्षेत्र का एक अत्यंत प्रभावशाली और शारीरिक रूप से चुनौतीपूर्ण लोक नृत्य है। यह नृत्य **पुरुष-प्रधान** है, और इसे केवल पुरुष नर्तक ही प्रस्तुत करते हैं। इसकी पहचान एक्रोबेटिक शैली से होती है, जहाँ नर्तक एक ऊँचे, सीधे लकड़ी के खंभे पर चढ़ते हैं और बिना किसी सहारे के अपनी कमर पर संतुलन बनाते हुए विभिन्न हैरतअंगेज़ करतब दिखाते हैं[21]।
'लांगविर' शब्द का अर्थ 'महान वीर' होता है। यह नृत्य केवल शारीरिक कौशल का प्रदर्शन नहीं है, बल्कि यह साहस, सहनशक्ति, मानसिक दृढ़ता और आध्यात्मिक समर्पण का भी प्रतीक है[21]। खंभे पर संतुलन बनाना और प्रदर्शन करना पहाड़ के लोगों की जुझारू प्रवृत्ति और बहादुरी का कलात्मक प्रतिबिंब है, जो जीवन की कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता को दर्शाता है।

4.3. झुमैलो नृत्य: प्रकृति और सामूहिक भावना

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

झुमैलो एक सामूहिक नृत्य शैली है, जिसका विषय वस्तु अक्सर प्रकृति की सुंदरता, फूलों और सामाजिक संबंधों पर केंद्रित होता है। गीतों में अक्सर पर्वतीय भूग्याल (घास के मैदान) और खिलते फूलों का उल्लेख होता है, जैसे: "फूलन डावी बे फूली जाली झूमेलो..." [22]। झुमैलो नृत्य महिलाओं द्वारा समूह में किया जाता है और यह सामाजिक मेल-मिलाप तथा सामूहिक सौहार्द का माध्यम है।
उत्तराखंड के लोक नृत्यों में एक स्पष्ट **लिंग-आधारित विशेषज्ञता** दिखाई देती है। लांगविर जैसे नृत्य कठोरता से पुरुष-प्रधान हैं और शारीरिक जोखिम तथा मार्शल भावना का प्रतीक हैं [21]। यह विभाजन उस कठोर जीवन शैली को दर्शाता है जहाँ पुरुषों की भूमिका बहादुरी और तपस्या से जुड़ी थी, जबकि महिलाओं की भूमिका भावनात्मक अभिव्यक्ति (खुदेड़) और सामूहिक सौहार्द (झुमैलो) से जुड़ी थी। ये नृत्य रूप सांस्कृतिक रूप से पुरुषों की शारीरिक शक्ति और सहनशक्ति को एक कलात्मक रूप प्रदान करते हैं।

खंड ५: कथा का मंचन: लोक नाट्य परंपरा

उत्तराखंड की लोक नाट्य परंपराएँ, जैसे रम्माण और पांडव लीला, कथात्मक प्रस्तुति के माध्यम से धार्मिक इतिहास और पौराणिक आख्यानों को जीवित रखती हैं।

5.1. रम्माण उत्सव: यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त विरासत

रम्माण उत्सव चमोली जिले के सलूड़ गांव (और पास के डुंग्री, बरोशी, सेलंग गांवों) में प्रतिवर्ष बैसाखी से शुरू होता है और लगभग एक पखवाड़े तक चलता है [13]। यह 500 वर्ष पुरानी संस्कृति है और इसे यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (Intangible Cultural Heritage) के रूप में मान्यता प्राप्त है [14]।
इस उत्सव की जड़ें आदि शंकराचार्य द्वारा धर्म प्रचार के लिए जोशीमठ के आसपास स्थापित परंपराओं से जुड़ी हैं, जहाँ शिष्यों ने हिंदू देवी-देवताओं के मुखौटे लगाकर नृत्य नाटिकाएँ प्रस्तुत की थीं [13]। रम्माण की विशिष्टता यह है कि इसमें संपूर्ण रामायण के संक्षिप्त प्रसंगों का मंचन किया जाता है, लेकिन **बिना संवादों के**—केवल गीतों, ढोल और ताल की लय पर [12]। उत्सव के दौरान 18 अलग-अलग धुन और तालों पर नृत्य होते हैं, जिनमें मुखौटा नृत्य (जैसे गणेश, कालिका, मवर-मौरी, पांडव नृत्य) प्रमुख हैं [12]। रम्माण की यह मौन, लय-आधारित प्रस्तुति दर्शाती है कि यह एक गहन अनुष्ठानिक प्रदर्शन की श्रेणी में आता है, जहाँ कथा का बोध वाचिक संचार के बजाय सीधे मुद्रा, लय और प्रतीकात्मक मुखौटे के माध्यम से किया जाता है।

5.2. पांडव लीला: अनुष्ठानिक अवतार और पश्वा परंपरा

पांडव लीला गढ़वाल क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण अनुष्ठानिक प्रदर्शन कला है, जो महाभारत के प्रसंगों पर आधारित है। रात के समय इसमें नृत्य किया जाता है और दिन में लीलाओं का आयोजन होता है [15]।
यह परंपरा इस विश्वास पर आधारित है कि पांडवों ने स्वर्गारोहणी जाने से पूर्व यहां के लोगों को अपने अस्त्र-शस्त्र दिए थे, जिनकी चिरकाल तक पूजा-अर्चना की जाती रही है [15]। पांडव लीला का सबसे विशिष्ट और अनुष्ठानिक तत्व ढोल-दमाऊं की विभिन्न और विशेष थापों पर पांडवों के पश्वा (माध्यम) का अवतरित होना है [16]। प्रत्येक पांडव पात्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव) के अवतरण की अपनी

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

विशिष्ट थाप होती है। यह अनुष्ठानिक दृढ़ता सुनिश्चित करती है कि यह कला रूप सदियों से उत्तराखंड की अनुपम सांस्कृतिक धरोहर बना रहे [16]।

5.3. पारंपरिक और अनुकूलित नाट्य रूप

लोक नाट्य परंपरा में रम्माण और पांडव लीला के अतिरिक्त अन्य रूप भी शामिल हैं। **भड़ौ लोकनाट्य** एक सशक्त माध्यम है जो लोक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करता है। इसमें संगीत के तीनों तत्वों (गायन, वादन, नृत्य) के साथ-साथ अभिनय पक्ष का भी समावेश रहता है, जिससे दर्शक गाथा के साथ एक अपनापन अनुभव करते हैं [23]।

इसके अलावा, **रामलीला** का मंचन भी उत्तराखंड में व्यापक रूप से होता है। पौड़ी में पिछले 125 सालों से निरंतर आयोजित हो रही रामलीला विशेष रूप से उल्लेखनीय है [24]। यह पारसी थिएटर और शास्त्रीय संगीत पर आधारित है, जिसकी शुरुआत कंडोलिया देवता की पूजा-अर्चना से होती है। इस रामलीला की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसका **लैंगिक अनुकूलन** है। जहाँ पहले पुरुष पात्र ही सभी भूमिकाएँ निभाते थे, वहीं सन् 2000 से महिला पात्रों की भूमिका महिला कलाकार करने लगी हैं [24]। यह निर्णय परंपरा को सामाजिक रूप से अधिक स्वीकार्य और टिकाऊ बनाने की रणनीति को दर्शाता है, जिससे कला रूप अपनी प्रासंगिकता और कलाकारों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ रहे हैं।

निम्नलिखित सारणी मौखिक परंपराओं के चार आधार स्तंभों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करती है:

सारणी 1: मौखिक परंपराओं के चार आधार स्तंभों का तुलनात्मक विश्लेषण

परंपरा	मुख्य विशेषता	प्रदर्शन शैली	प्रमुख अनुष्ठानिक तत्व	प्राथमिक क्षेत्र
लोकगीत (गीत)	गेयता, रसात्मकता, विरह या ऋतु का वर्णन (खुदेड़, चैती, ऋतुरैंण)।	व्यक्तिगत या सामूहिक गायन; ढोली/औजी द्वारा प्रदर्शन।	संस्कार (मांगल), भावनात्मक अभिव्यक्ति, ऋतु चक्र का स्वागत।	गढ़वाल एवं कुमाऊँ।
जागर (जागर)	देवता का आह्वान, वीर गाथाओं का वर्णन; सामाजिक व्यंग्य का समावेश।	अनुष्ठानिक गायन (जागरिया प्रमुख); ढोल-दमाऊ की लय।	पश्वा अवतरण, दोष निवारण, आध्यात्मिक संचार।	गढ़वाल एवं कुमाऊँ।
लोक नृत्य (नृत्य)	गति, शारीरिक कौशल, कलाबाजियाँ; समूह या एकल प्रदर्शन।	मार्शल (छोलिया, ढाल-तलवार), एक्रोबेटिक (लांगविर, खंभे पर), सामूहिक (झुमैलो)।	वीरता का प्रदर्शन, आध्यात्मिक तपस्या, सामाजिक एकता।	गढ़वाल (लांगविर) और कुमाऊँ (छोलिया)।

लोक नाट्य (नाटक)	कथात्मक प्रस्तुति, पात्रों का चित्रण; संगीत और अभिनय का मिश्रण।	मुखौटा नृत्य (रम्माण, बिना संवाद), अनुष्ठानिक मंचन (पांडव लीला, पश्वा अवतरण), अनुकूलित रामलीला।	धर्मग्रंथों का पुनर्मंचन, सामुदायिक एकता, यूनेस्को मान्यता।	गढ़वाल एवं कुमाऊँ।

खंड ६: निष्कर्ष और संरक्षण की दिशा

उत्तराखंड की मौखिक परंपराएँ—गीत, जागर, नृत्य और नाट्य—एक दूसरे से जुड़ी हुई, एकीकृत सांस्कृतिक विरासत का निर्माण करती हैं। इन कला रूपों में अक्सर तत्वों का समावेशन देखा जाता है, जैसे कि चौपती का नृत्य-गीत शैली [11] या भड़ौ लोकनाट्य में चारों तत्वों का मिश्रण [23]। रम्माण उत्सव को यूनेस्को की मान्यता [14] और पांडव लीला की अनुष्ठानिक दृढ़ता [16] इस विरासत की वैश्विक और स्थानीय महत्ता को स्थापित करती है।

6.1. संरक्षण की वर्तमान चुनौतियाँ

लोक साहित्य की अंतर्निहित निर्वैयक्तिकता और श्रुति परंपरा पर निर्भरता इसे आधुनिक चुनौतियों के प्रति संवेदनशील बनाती है [1]। वर्तमान में, इन परंपराओं के सामने कई गंभीर खतरे उत्पन्न हो गए हैं [2]:

1. **संवाहकों की कमी:** लोक-संस्कृति के संवाहकों (कलाकारों, ढोली, औजी) की अगली पीढ़ी में कमी हो रही है।
2. **बाहरी प्रभाव और शैली में परिवर्तन:** बाहरी संस्कृतियों और आधुनिक मनोरंजन के बढ़ते प्रभाव के कारण लोक-संगीत की मूल शैली और विषय वस्तु में परिवर्तन आ रहा है।
3. **विलोपन का खतरा:** व्यवसायीकरण और शहरीकरण के कारण लोक-संस्कृति के विलोपन (erasure) का खतरा बढ़ रहा है।

6.2. संरक्षण और प्रामाणिकता का विरोधाभास

संरक्षण के प्रयासों में एक सूक्ष्म विरोधाभास सामने आता है। यद्यपि संस्थागतकरण (जैसे जागर अकादमी की स्थापना [3]) और सरकारी प्रोत्साहन (जैसे छोलिया नृत्य के लिए प्रोत्साहन [18]) परंपराओं को जीवित रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं, इन प्रयासों से लोक कलाओं का व्यवसायीकरण होता है। यह व्यवसायीकरण उनकी मूल *निर्वैयक्तिकता* और *नैसर्गिक सहजता* [1] को खतरे में डाल सकता है, जिससे उनकी शैली और विषय वस्तु में परिवर्तन आता है [2]। संरक्षण के लिए दस्तावेज़ीकरण और मंचन आवश्यक है, लेकिन इसके परिणामस्वरूप लोक-कला की मूल "अकृत्रिमता" का लोप हो सकता है। इसलिए, संरक्षण की रणनीति ऐसी होनी चाहिए जो विधा की प्रामाणिकता और अनुष्ठानिक महत्व को बनाए रखते हुए उसे आधुनिक मंच प्रदान करे।

6.3. भावी रणनीति और सिफारिशें

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की मौखिक विरासत को दीर्घकालिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक बहुआयामी दृष्टिकोण आवश्यक है:

1. **संस्थागत समर्थन और दस्तावेज़ीकरण:** राज्य सरकार को जागर (जैसे 'प्रीतम भरतवाण जागर ढोल सागर एकेडमी' को मदद) और लोक नृत्यों को बढ़ावा देने के लिए विशिष्ट अकादमियों और प्रोत्साहन योजनाओं में निवेश जारी रखना चाहिए [3]।
2. **यूनेस्को मॉडल का विस्तार:** रम्माण की सफलता [14] को एक मॉडल के रूप में उपयोग करके, पांडव लीला और अन्य लुप्तप्राय मौखिक कलाओं के लिए वैश्विक पहचान प्राप्त करने के प्रयास किए जाने चाहिए। वैश्विक मान्यता स्थानीय रुचि को पुनर्जीवित करने में मदद करती है।
3. **सामुदायिक अनुकूलन को प्रोत्साहन:** पौड़ी की रामलीला में महिला कलाकारों को शामिल करने [24] जैसे स्थानीय समुदायों द्वारा किए जा रहे रचनात्मक अनुकूलन को प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि परंपराएँ सामाजिक रूप से प्रासंगिक और समावेशी बनी रहें।
4. **शिक्षा में समावेशन:** मौखिक परंपराओं को विद्यालय और उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में शामिल करना, ताकि अगली पीढ़ी लोक-संस्कृति के संवाहक के रूप में तैयार हो सके और संवाहकों की कमी की चुनौती का समाधान हो सके [2]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की तीर्थयात्रा परंपरा: आस्था, पारिस्थितिकी और आधुनिकीकरण का गहन विश्लेषण

I. भूमिका: देवभूमि उत्तराखंड का आध्यात्मिक परिदृश्य

I.1. उत्तराखंड: देवभूमि की संकल्पना और ऐतिहासिक जड़ें

उत्तराखंड, जो हिमालय की गोद में स्थित है, को सदियों से 'देवभूमि' की उपाधि प्राप्त है, जो इसकी असाधारण भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को रेखांकित करती है[1]। यह पदवी केवल चार प्रमुख तीर्थस्थलों—चारधाम—की उपस्थिति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह शैव, शाक्त, और वैष्णव परंपराओं के जटिल, सदियों पुराने केंद्रों के एक व्यापक जाल पर आधारित है।

इस आध्यात्मिक परिदृश्य की ऐतिहासिक जड़ें उत्तराखंड के विभिन्न जिलों में फैली हुई हैं। उदाहरण के लिए, अल्मोड़ा क्षेत्र में, शिव के आठ भैरवों द्वारा आठ गेटों की निगरानी की कल्पना की जाती है, और यहाँ नौ दुर्गा स्वरूपों को समर्पित नौ मंदिर मौजूद हैं, जिनमें नंदा देवी, कसार देवी, पाताल देवी और त्रिपुरा देवी शामिल हैं[2]। ये मंदिर मुख्य तीर्थों के पीछे की व्यापक शैव और शाक्त शक्ति परंपरा को दर्शाते हैं। अल्मोड़ा से 47 किलोमीटर दूर स्थित गणनाथ मंदिर अपनी गुफाओं और शिव मंदिर के लिए प्रसिद्ध है, जहाँ कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर लगने वाला मेला स्थानीय भक्ति और लोकगीतों का एक महत्वपूर्ण केंद्र है[2]।

गढ़वाल क्षेत्र में, लैंड्सडाउन के पास स्थित कालेश्वर महादेव मंदिर—जिसका नाम ऋषि कालून के नाम पर रखा गया है, जिन्होंने यहाँ ध्यान किया था—भगवान शिव को समर्पित एक सदियों पुराना मंदिर है[3]। यह स्थान न केवल स्थानीय लोगों के लिए, बल्कि बहादुर गढ़वाल रेजीमेंट के लिए भी भक्ति का केंद्र रहा है[3]। मंदिर के पास कई ऋषियों की समाधियाँ देखी जा सकती हैं, जो इस क्षेत्र की गहन ऋषि परंपराओं और आध्यात्मिक महत्व को सिद्ध करती हैं। ये तथ्य स्थापित करते हैं कि उत्तराखंड की 'देवभूमि' की संकल्पना का आधार केवल प्रमुख तीर्थ नहीं हैं, बल्कि यह एक समृद्ध आध्यात्मिक इतिहास और निरंतर चलती आ रही स्थानीय ऋषि-परंपरा पर टिका हुआ है।

I.2. तीर्थाटन (Pilgrimage) बनाम पर्यटन (Tourism): वैचारिक द्वंद्व

हिंदू धर्म में 'तीर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं आध्यात्मिक मुक्ति के उद्देश्य को स्पष्ट करती है। तीर्थ का अर्थ है: *तरति पापादिकम् यस्मात्* (जिससे पाप तर जाते हैं) अथवा *तोरयते अनेन इति* (जिससे मुक्ति प्राप्त होती है)[4]। मूल उद्देश्य पुण्य प्राप्ति और पापों का निवारण रहा है, जिससे श्रद्धालु आत्मशुद्धि की भावना से प्रेरित होते थे।

हालांकि, वर्तमान संदर्भ में, तीर्थाटन का तेजी से पर्यटन में रूपांतरण हो रहा है। पहले, यात्री शांत माहौल में, धीमी गति से, और अत्यधिक श्रद्धाभाव के साथ यात्रा करते थे[4]। आज, सरकारें तीर्थों का विज्ञापन सीधे पर्यटक केंद्रों के रूप में कर रही हैं, और तीर्थयात्रियों में पर्यटक की भावना हावी होती दिखाई देती

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

है[4]। नई पीढ़ी के यात्री अब पूजा या स्नान की अपेक्षा सैर-सपाटे के लिए अधिक जाते हैं। वे तीर्थ के महात्म्य को अन्दर से महसूस करने की अपेक्षा केवल स्थान के बाहरी सौंदर्य को देखना चाहते हैं[4]। इस व्यावसायीकरण के कारण सांस्कृतिक और धार्मिक पक्ष गौण हो रहा है। पारंपरिक पंडे-पुरोहित, जो श्रद्धा का भाव भरने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, उनकी नस्ल अब लगभग समाप्तप्राय है, और उनका स्थान गाइडों ने ले लिया है, जो कोई संस्कार जाग्रत नहीं कर पाते[4]। इसके अतिरिक्त, धर्मशालाओं की जगह ऐश्वर्यशाली होटलों ने ले ली है, जहाँ पर्यटक महानगरों की दुनिया से दूर आराम की सुविधाएँ खोजते हैं। यहाँ तक कि पवित्र संसाधनों का भी व्यावसायीकरण हो रहा है, जैसे कि गंगा जल को बोतलों में भरकर 'हिमालयन मिनरल वाटर' के रूप में बेचा जा रहा है[4]।

यह रिपोर्ट इस द्वंद्व पर आधारित है: जहां धार्मिक पर्यटन स्थानीय अर्थव्यवस्था के लिए आय और रोजगार का स्थिर स्रोत बनता है[5], वहीं इस बाजारू छाया के कारण पारिस्थितिकी पर अत्यधिक दबाव पड़ रहा है, जिससे भूस्खलन और पर्यावरणीय अस्थिरता बढ़ रही है[1]।

I.3. रिपोर्ट का संरचनात्मक अवलोकन

यह रिपोर्ट उत्तराखंड की चार प्रमुख तीर्थयात्राओं—चारधाम यात्रा, कुंभ मेला, नंदा राजजात, और कैलाश मानसरोवर—का उनके धार्मिक और लॉजिस्टिकल पहलुओं के साथ गहन विश्लेषण करती है। इसके उपरांत, यह रिपोर्ट आधुनिकीकरण, चारधाम परियोजना, जलवायु परिवर्तन और आपदा जोखिम के संदर्भ में उत्पन्न होने वाली प्रमुख पारिस्थितिक और सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों का संश्लेषण करती है।

II. चारधाम यात्रा: मोक्ष का हिमालयी महाचक्र

चारधाम यात्रा—बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और यमुनोत्री—भारतीय आस्था का अटूट प्रतीक है, जिसे हिंदू धर्म में मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग माना जाता है[7]। यह यात्रा केवल एक धार्मिक भ्रमण नहीं है, बल्कि जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र को समझने की आध्यात्मिक साधना है। यात्रा का पारंपरिक क्रम पश्चिम से पूर्व की ओर है: यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, और अंत में बद्रीनाथ[7]।

II.1. चारधाम का पौराणिक आधार और भौगोलिक क्रम

यमुनोत्री धाम: जीवनदायिनी यमुना का उद्गम

यमुनोत्री धाम समुद्र तल से 10,804 फीट की ऊंचाई पर स्थित चारधाम यात्रा का पहला पड़ाव है[7]। यह मंदिर देवी यमुना को समर्पित है, जो सूर्यपुत्री और मृत्यु के देवता यमराज की बहन मानी जाती हैं[7]। पौराणिक मान्यता है कि यहाँ ऋषि असित मुनि ने निवास किया था। जब वृद्धावस्था के कारण वे गंगा तक नहीं जा पाए, तो गंगा स्वयं यमुना के रूप में उनके निकट प्रकट हुईं[7]। यमुनोत्री धाम से एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित चंपासर ग्लेशियर (4,421 मीटर ऊंचाई पर) यमुना का मूल उद्गम है[8]। इस धाम की सबसे अनूठी विशेषता यहाँ मौजूद गर्म पानी के कुंड (जैसे सूर्य कुंड) हैं, जहाँ तीर्थयात्री स्नान करते हैं[7]। शीतकाल में देवी यमुना को उनके शीतकालीन निवास खरसाली गाँव में स्थानांतरित कर दिया जाता है[7]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

गंगोत्री धाम: मोक्षदायिनी गंगा का अवतरण

गंगोत्री धाम (10,200 फीट) भागीरथी (गंगा) नदी का उद्गम स्थल है[7]। पौराणिक कथाओं के अनुसार, राजा भगीरथ की कठोर तपस्या के बाद देवी गंगा ने स्वर्ग से उतरकर पहली बार गंगोत्री में ही धरती का स्पर्श किया था[8]। हालांकि, गंगा का वास्तविक उद्गम गंगोत्री से 19 किलोमीटर की दूरी पर स्थित गोमुख में अवस्थित है, लेकिन श्रद्धालु गंगोत्री में ही देवी गंगा के दर्शन करते हैं[8]।

II.2. केदारनाथ धाम: शिव का दिव्य निवास और पंच केदार

केदारनाथ धाम 3,593 मीटर की ऊंचाई पर रुद्रप्रयाग जिले में मंदाकिनी नदी के तट पर स्थित है[8]। यह स्थान देश के 12 ज्योतिर्लिंगों में विशिष्ट स्थान रखता है और 1,200 साल से भी अधिक पुराना माना जाता है, जिसका श्रेय आदि शंकराचार्य को दिया जाता है[9]।

पांडवों की कथा और ज्योतिर्लिंग की उत्पत्ति

केदारनाथ मंदिर का निर्माण द्वापर युग से जोड़ा जाता है और इसका श्रेय पांडव भाइयों को जाता है[9]। महाभारत युद्ध के बाद, पापों से मुक्ति पाने के लिए पांडवों ने भगवान शिव की तलाश की। शिव ने उन्हें दर्शन न देने के लिए बैल का रूप धारण किया और भूमि में अंतर्ध्यान होने लगे[10]। पांडवों की दृढ़ शक्ति और निष्ठा से प्रेरित होकर, भीम ने बैल की त्रिकोणाकार पीठ का भाग पकड़ लिया[10]। भगवान शिव पांडवों पर प्रसन्न हुए और उन्हें पाप मुक्त किया। यही त्रिकोणाकार पीठ की आकृति केदारनाथ में ज्योतिर्लिंग के रूप में पूजी जाती है[10]।

पंच केदार

जब भगवान शिव बैल रूप में अंतर्ध्यान हुए, तो उनके शरीर के विभिन्न अंग पाँच स्थानों पर प्रकट हुए, जो पंच केदार सर्किट का निर्माण करते हैं[10]:

- **केदारनाथ:** पीठ (त्रिकोणाकार ज्योतिर्लिंग)।
- **पशुपतिनाथ (काठमांडू):** मुख।
- **तुंगनाथ:** भुजाएँ।
- **मध्य महेश्वर:** नाभि।
- कल्पेश्वर: जटा।

  यह सर्किट केदारनाथ के महत्व को एक व्यापक शैव तीर्थ सर्किट के केंद्र के रूप में स्थापित करता है।

II.3. बद्रीनाथ धाम: भगवान विष्णु का अंतिम पड़ाव और विशिष्ट अनुष्ठान

बद्रीनाथ धाम भगवान विष्णु को समर्पित है, जहाँ उनकी शालिग्राम पत्थर से बनी मूर्ति 'बद्री नारायण' ध्यान मुद्रा में विराजमान है[11]। यह धाम समुद्र तल से 10,248 फीट की ऊंचाई पर स्थित है।

तप्त कुंड और शंखनाद निषेध की परंपरा

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

मंदिर के पास तप्त कुंड नामक एक प्राकृतिक गर्म पानी का कुंड है[12], जिसे चमत्कारी माना जाता है क्योंकि इसका जल बर्फ के बीच भी उबलता रहता है[11]। श्रद्धालु इसमें स्नान करके रोगों से मुक्ति और शुद्धि प्राप्त करने की कामना करते हैं।
बद्रीनाथ धाम की एक अद्वितीय विशेषता यहाँ शंखनाद का वर्जित होना है[13]। पौराणिक कथा के अनुसार, भगवान विष्णु ने अत्याचारी दैत्य शंखचूर्ण का वध करने के बाद भी शंख नहीं बजाया, ताकि उनकी पत्नी माता लक्ष्मी की गहन साधना बाधित न हो[13]। यह निर्णय समर्पण और साधना के सम्मान की अमर गाथा बन गया, और यह परंपरा आज तक अक्षुण्ण है। यह नियम बद्रीनाथ को शेष तीर्थों से अलग करता है और भक्ति में अनुशासन और श्रद्धा के महत्व को दर्शाता है।

शीतकालीन परंपराएँ

सर्दियों में बद्रीनाथ के कपाट बंद होने पर मुख्य पुजारी (रावल) द्वारा स्त्री रूप धारण करने का एक विशिष्ट अनुष्ठान किया जाता है[14]। भक्तों का दृढ़ विश्वास है कि कपाट बंद होने के छह महीने बाद जब वे दोबारा खोले जाते हैं, तो दीपक वैसे ही जलता हुआ मिलता है, क्योंकि इन छह महीनों में देवता स्वयं विधिविधान से पूजा अर्चना करते हैं[14]। मंदिर के पास अन्य दर्शनीय स्थलों में ब्रह्मा कपाल (धार्मिक अनुष्ठानों के लिए), चरण पादुका (भगवान विष्णु के पैरों के निशान), और वसुधारा झरना शामिल हैं[15]।

III. कुंभ मेला, हरिद्वार: खगोलीय गणना और आध्यात्मिक समागम

हरिद्वार में आयोजित होने वाला कुंभ मेला (या महाकुंभ) हिंदुओं के लिए गहन धार्मिक महत्व रखता है और यह दुनिया का सबसे बड़ा धार्मिक समागम है[16]।

III.1. कुंभ की ज्योतिषीय और पौराणिक उत्पत्ति

पौराणिक आधार और आवधिकता

कुंभ मेले का मूल अमृत मंथन से जुड़ा है, जिसके दौरान अमृत कलश से अमृत की बूंदें पृथ्वी पर चार स्थानों (हरिद्वार, प्रयागराज, नासिक, उज्जैन) पर गिरी थीं[17]। हरिद्वार में, कुंभ मेला प्रत्येक 12 वर्ष में आयोजित होता है, जबकि अर्ध कुंभ प्रत्येक 6 वर्ष में आयोजित किया जाता है[16]।

ज्योतिषीय गणना

कुंभ मेले का आयोजन खगोलीय घटनाओं पर निर्भर करता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार, यह तब आयोजित होता है जब देव गुरु बृहस्पति और ग्रहों के राजा सूर्य एक निर्धारित राशि में स्थित होते हैं[18]। हरिद्वार में महाकुंभ तब लगता है जब बृहस्पति कुंभ राशि में और सूर्य मेष राशि में होते हैं (अगला हरिद्वार कुंभ 2033 में प्रस्तावित है)[19]। इन विशेष खगोलीय स्थितियों को शुभ माना जाता है, जिससे सृष्टि में सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह होता है, जो आध्यात्मिक शुद्धि के लिए उपयुक्त समय प्रदान करता है[18]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

III.2. अखाड़े और शाही स्नान का महत्व

अखाड़ों की ऐतिहासिक भूमिका

'अखाड़ा' शब्द 'अखंड' (अविभाज्य) से उत्पन्न हुआ है[21]। ये धार्मिक आदेश 6वीं शताब्दी में आदि गुरु शंकराचार्य के समय से माने जाते हैं और सनातन धर्म की विभिन्न परंपराओं और संप्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं[21]।

नागा साधु और शाही स्नान

शैव अखाड़ों का नेतृत्व नागा संन्यासी करते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार, शंकराचार्य ने उन्हें विदेशी आक्रांताओं से धर्म की रक्षा के लिए 'धर्मसेना' के रूप में तैयार किया था[22]। ये साधु कठोर साधना, बगैर कपड़ों के रहना (मौसम चाहे कोई भी हो), और शरीर पर भस्म लगाना जैसे कठोर नियम पालन करते हैं[22]।

शाही स्नान कुंभ मेले का सबसे प्रमुख अनुष्ठान है, जिसमें नागा साधु भाले और तलवार जैसे पारंपरिक शस्त्रों के साथ भव्य जुलूसों में शामिल होकर गंगा में स्नान करते हैं[21]। शाही स्नान की अवधि में गंगा में डुबकी लगाने से आध्यात्मिक उन्नति और नकारात्मक ऊर्जा के त्याग की मान्यता है[18]।

III.3. आधुनिक कुंभ प्रबंधन और चुनौतियाँ

कुंभ का आध्यात्मिक महत्व खगोलीय गणना पर निर्भर करता है, लेकिन आधुनिक राज्य के लिए इसका प्रबंधन एक विशाल भौतिक और लॉजिस्टिकल चुनौती प्रस्तुत करता है। इस आयोजन में करोड़ों भक्तों की सुरक्षा, स्वास्थ्य और मूलभूत सुविधाओं का ध्यान रखना होता है[16]।

खगोलीय शुद्धिकरण का भौतिक प्रबंधन: भले ही कुंभ का आधार आध्यात्मिक शुद्धि हो, इस महासमागम में पर्यावरण और स्वच्छता प्रबंधन एक प्रमुख प्रशासनिक फोकस बन गया है[24]। नदी की सुरक्षा बढ़ाने, अपशिष्ट निपटान प्रणाली को सुव्यवस्थित करने और कचरा स्किमर मशीनों का उपयोग करके नदी की सफाई करने पर ध्यान केंद्रित किया जाता है[24]। आगामी कुंभ (जैसे 2027 में अर्ध कुंभ की तैयारी) के लिए हरिद्वार शहर के बुनियादी ढांचे के विकास और पुनरुद्धार की कवायद चल रही है[25]। इससे स्पष्ट होता है कि बड़े पैमाने पर आस्था के संरक्षण के लिए अब आधुनिक इंजीनियरिंग, प्रशासनिक लॉजिस्टिक्स और पर्यावरण प्रोटोकॉल का कठोर मिश्रण आवश्यक है।

IV. नंदा राजजात: हिमालय का महाकुंभ और सांस्कृतिक धरोहर

नंदा राजजात यात्रा, जिसे अक्सर 'हिमालयी कुंभ' कहा जाता है, एशिया की सबसे कठिन और लंबी (लगभग 280 किलोमीटर) पैदल तीर्थयात्राओं में से एक है[26]।

IV.1. राजजात यात्रा का स्वरूप और चक्र

आवधिकता और मार्ग

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

यह यात्रा उत्तराखंड की कुलदेवी माँ नंदा देवी (जिन्हें माँ पार्वती का रूप माना जाता है) की विदाई का पर्व है [27]। इसका आयोजन हर 12 साल में एक बार होता है (अगली यात्रा 2026 में प्रस्तावित है) [26]। यात्रा का उद्देश्य देवी को उनके मायके (चमोली जिले के नोटी गांव) से उनके ससुराल कैलाश तक पहुंचाना है [27]। यह यात्रा नोटी गांव से शुरू होती है और पैदल चलकर होमकुंड पर समाप्त होती है, जो यात्रा का अंतिम परंपरागत समापन स्थल है [27]।

IV.2. 'चार सिंगा मेंढ़ा' की प्रतीकात्मक भूमिका

राजजात यात्रा की सबसे विशिष्ट विशेषता इसका नेतृत्व करने वाला 'चार सिंगा मेंढ़ा' (चार सींग वाला भेड़) है [27]।

प्रकृति, दैवीय चुनाव और लोक आस्था

भक्तों का दृढ़ विश्वास है कि देवी नंदा स्वयं उस भेड़ पर सवार होती हैं [27]। यात्रा तब तक शुरू नहीं होती जब तक वह भेड़ स्वयं आगे बढ़ने के लिए तैयार न हो जाए [27]। यह परंपरा स्थापित करती है कि यह यात्रा मानवीय पहल से अधिक दैवीय संकेत पर निर्भर करती है। होमकुंड पहुंचने पर, देवी की विदाई का क्षण अत्यंत भावनात्मक होता है, और भेड़ को अंततः होमकुंड में आजाद कर दिया जाता है [28]।
यह यात्रा परंपरा, जो प्राकृतिक संकेतों और पैदल मार्ग पर निर्भर करती है, हिमालयी लोक आस्था की गहराई को दर्शाती है, जहाँ दैवीय शक्ति का सीधा संबंध प्रकृति के तत्वों से है। यह यात्रा उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत को प्रदर्शित करती है, जिसके संरक्षण और संवर्धन के लिए 2026 की यात्रा हेतु सरकारी तैयारियां चल रही हैं [26]।

V. कैलाश मानसरोवर यात्रा: आस्था का अंतर्राष्ट्रीय शिखर

कैलाश पर्वत और मानसरोवर झील को हिंदू धर्म में भगवान शिव का निवास, और बौद्ध, जैन, और बॉन धर्मों सहित कई धर्मों के लिए ब्रह्मांड की आध्यात्मिक धुरी माना जाता है [23]।

V.1. कैलाश-मानसरोवर का वैश्विक आध्यात्मिक केंद्र

कैलाश मानसरोवर की पवित्रता इसकी बहु-धार्मिक स्वीकार्यता में निहित है:

- **हिंदू धर्म:** यह भगवान शिव का निवास है, जहां परिक्रमा आत्मा की शुद्धि और मोक्ष की ओर ले जाती है [29]।
- **जैन धर्म:** जैन इसे अष्टपद पर्वत कहते हैं, जहाँ जैन धर्म के संस्थापक ऋषभ देव ने मोक्ष प्राप्त किया था [29]।
- **बौद्ध धर्म:** बौद्ध अनुयायी इसे आध्यात्मिक धुरी मानते हैं और यहाँ साधना कर 'ओम मणि पद्मे हूं' के सत्य को समझने का प्रयास करते हैं [29]।
- **सिख और बॉन धर्म:** सिख धर्म के पहले गुरु, गुरु नानक देव जी, ने यहाँ ध्यान किया था, और तिब्बत का प्राचीन बॉन धर्म इसे 'सिपाईमेन' (आकाश की देवी) का निवास मानता है [29]।

V.2. यात्रा मार्ग और लॉजिस्टिक्स

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

भारत सरकार इस पवित्र यात्रा का प्रबंधन करती है, जिसके लिए दो मुख्य मार्ग निर्धारित हैं: लिपुलेख दर्रा (उत्तराखंड) और नाथू ला दर्रा [30]।

लिपुलेख दर्रा मार्ग और भू-राजनीतिक संवेदनशीलता

उत्तराखंड में कुमाऊँ मंडल विकास निगम (KMVN) द्वारा इस यात्रा का संचालन किया जाता है [31]। मार्ग टनकपुर/काठगोदाम से धारचूला-तवाघाट होते हुए लिपुलेख दर्रे तक जाता है [32]।

भू-राजनीति और उच्च लागत: भारत-चीन सीमा विवाद और कोविड-19 प्रतिबंधों के कारण यह यात्रा पाँच वर्षों (2019 के बाद) से स्थगित थी, जो 2025 में पुनः शुरू हुई है [31]। इस यात्रा का प्रबंधन भारतीय क्षेत्र में KMVN और तिब्बत में अली के पर्यटक कंपनी द्वारा किया जाता है [32]।

यह यात्रा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि आध्यात्मिक पहुँच अब जटिल भू-राजनीतिक समीकरणों पर निर्भर करती है। लॉजिस्टिक लागत और अंतरराष्ट्रीय समन्वय में वृद्धि के कारण, KMVN शुल्क में भारी वृद्धि हुई है (₹35,000 से ₹56,000)। यात्रियों को इसके अतिरिक्त चीन का वीजा, कुली खर्च, और तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र में अलग से खर्च करना पड़ता है, जिससे कुल अनुमानित लागत लगभग ₹1.74 लाख प्रति व्यक्ति तक पहुँच जाती है [30]। यह वृद्धि स्थापित करती है कि आध्यात्मिक यात्रा अब उच्च लॉजिस्टिक और राजनीतिक जोखिमों के साथ आती है।

VI. तीर्थयात्रा का द्वंद्व: आधुनिकीकरण, पारिस्थितिकी और आपदा जोखिम (गहन विश्लेषण)

उत्तराखंड की तीर्थयात्राओं ने स्थानीय अर्थव्यवस्था को एक स्थिर आधार दिया है। धार्मिक पर्यटन स्थानीय बाजार, परिवहन सेवाओं, होटल, और पूजा सामग्री विक्रेताओं के लिए आय का स्रोत बनता है, जिससे दूरस्थ क्षेत्रों में ग्रामीण रोजगार के अवसर पैदा होते हैं [5]। हालांकि, आधुनिकीकरण और अविवेकपूर्ण विकास के कारण यह संपूर्ण क्षेत्र एक गंभीर पारिस्थितिक संकट से गुजर रहा है।

VI.1. तीर्थाटन का बाजारीकरण और सांस्कृतिक क्षरण

तीर्थाटन के पर्यटन में रूपांतरण से श्रद्धाभाव का ह्रास हुआ है। अब यात्री पाप मुक्ति और पुण्य प्राप्ति के दर्शन को गौण मानकर, सैर-सपाटे और सुविधा पर अधिक ध्यान केंद्रित करते हैं [4]।

सांस्कृतिक विलोपन: अनुष्ठानिक क्रियाकलाप की उपेक्षा से धार्मिक पक्ष कमजोर हो रहा है [4]। पंडे-पुरोहितों का स्थान गाइडों द्वारा ले लिया जाना, और धर्मशालाओं की जगह ऐश्वर्यशाली होटलों का आना, धार्मिक यात्रा के मूल चरित्र को बदल रहा है [4]। गंगा जल जैसे पवित्र संसाधनों का बोतलों में भरकर व्यावसायिक रूप से बेचा जाना, संसाधन दोहन की व्यावसायिक गिद्ध दृष्टि को दर्शाता है, जो तीर्थ की पवित्रता पर सीधा आघात है [4]।

VI.2. चारधाम परियोजना और पारिस्थितिक अस्थिरता

चारधाम महामार्ग विकास परियोजना का उद्देश्य कनेक्टिविटी में सुधार करना है, लेकिन इसके निष्पादन ने हिमालयी संरक्षण की संवेदनशीलता को नजरअंदाज किया है [6]।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

वैज्ञानिक मानकों की अनदेखी: राजमार्गों के सुधारीकरण में मार्ग सुरक्षा और हरित क्षेत्र (पेड़ों) के संरक्षण को महत्व दिया जाना चाहिए था, ताकि भूस्खलनरोधी दृष्टि से मार्ग अनुकूल बने[6]। हालांकि, संवेदनशील हिमालयी घाटियों में डीएल-पीएस मानक को खारिज करने और इंटरमीडिएट लेन मानक को लागू करवाने के प्रयासों से संरक्षण के पहलुओं को नजरअंदाज किया गया है[6]। इस परियोजना के लिए पर्यावरण प्रभाव आकलन (EIA) की आवश्यकता को भी केंद्र सरकार ने अस्वीकार कर दिया था[33]। ईआईए एक आवश्यक प्रक्रिया है जो प्रस्तावित गतिविधि के संभावित पर्यावरणीय प्रभावों का व्यवस्थित रूप से मूल्यांकन करती है[33]। इस तरह की अनदेखी हिमालयी पारिस्थितिकी के लिए दीर्घकालिक खतरों को बढ़ाती है।

आपदा जोखिम में वृद्धि: निर्माण कार्यों के कारण आपदा का खतरा बढ़ा है। एक रिपोर्ट के अनुसार, एक ही मानसून में 500 नए भूस्खलन ज़ोन (Landslide Zones) बने हैं[34]। यह दर्शाता है कि अनियंत्रित और अनियोजित विकास पर्वतीय स्थिरता को सीधे तौर पर कमजोर कर रहा है।

केदारनाथ त्रासदी (2013) का सबक: 2013 में बादल फटने, चौराबाड़ी झील में ग्लेशियर टूटने और भारी जलसैलाब आने से भयंकर तबाही हुई थी, जिसमें 4,700 से अधिक लोगों की मौतें हुईं[35]। यह त्रासदी अनियोजित निर्माण और पारिस्थितिक उपेक्षा के खतरों का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

VI.3. जलवायु परिवर्तन और सामाजिक पलायन का चक्रीय संबंध

उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्रों से होने वाला प्रवास (पलायन) एक गंभीर सामाजिक-आर्थिक और पर्यावरणीय चुनौती के रूप में उभरा है, जिसे जलवायु परिवर्तन ने और अधिक तीव्रता दी है[1]।

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव: तापमान में वृद्धि, वर्षा चक्र में असमानता और ग्लेशियरों के तेजी से पिघलने के कारण भूस्खलन, बादल फटने और जल स्रोतों के सूखने जैसी घटनाओं में वृद्धि हुई है[1]। ये प्राकृतिक आपदाएँ पर्वतीय जीवन को असुरक्षित और अस्थिर बना रही हैं।

आजीविका संकट और सांस्कृतिक विलोपन: जलवायु परिवर्तन के कारण कृषि उत्पादन प्रभावित होता है और आजीविका संकट उत्पन्न होता है, जिससे युवा पीढ़ी रोजगार की तलाश में महानगरों की ओर पलायन कर रही है[1]। इस पलायन से स्थानीय अर्थव्यवस्था, सामुदायिक संरचना और सामाजिक एकजुटता कमजोर हो जाती है[1]। धार्मिक पर्यटन से आर्थिक लाभ होने के बावजूद, आपदा का जोखिम और जलवायु अनिश्चितता स्थानीय जीवन की अस्थिरता को बढ़ाती है, जिससे पारंपरिक ज्ञान, संस्कृति और लोक धरोहर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है[1]।

VII. निष्कर्ष और सतत भविष्य की ओर मार्ग

VII.1. उत्तराखंड की तीर्थयात्रा परंपरा का संश्लेषण

उत्तराखंड की चार प्रमुख तीर्थयात्राएँ—चारधाम, कुंभ मेला, नंदा राजजात, और कैलाश मानसरोवर—भारतीय धर्म और संस्कृति के आधार स्तंभ हैं। ये यात्राएँ न केवल धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति हैं, बल्कि शैव, वैष्णव और शाक्त शक्ति के केंद्रों के रूप में हिमालयी लोक परंपराओं (जैसे चार सिंगा मेंढ़ा का अनुष्ठान) और खगोलीय शुद्धिकरण के दर्शन (कुंभ की गणना) का एक जटिल संगम प्रस्तुत करती हैं।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

हालांकि, वर्तमान में ये यात्राएँ विकास, पारिस्थितिकी और आस्था के बीच गहरे द्वंद्व का सामना कर रही हैं। तीर्थाटन का बाजारीकरण, धार्मिक श्रद्धा के क्षरण का कारण बन रहा है, जबकि अनियोजित बुनियादी ढाँचा विकास और जलवायु परिवर्तन हिमालय की नाजुक स्थिरता को नष्ट कर रहे हैं।

VII.2. सतत विकास और नीतिगत अनिवार्यताएँ

उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्रों के सतत विकास के लिए बहुआयामी नीति हस्तक्षेप आवश्यक है। केवल आर्थिक लाभ को प्राथमिकता देना, जैसा कि वर्तमान में हो रहा है, 2013 जैसी आपदाओं के जोखिम को बढ़ाता है।

1. **पर्यावरण-संवेदी मॉडल का कार्यान्वयन:** पर्वतीय क्षेत्रों के सतत विकास के लिए जलवायु परिवर्तन अनुकूलन रणनीति को स्थानीय प्रवास नीति के साथ जोड़कर लागू करना होगा[1]। इसका अर्थ है कि सभी बुनियादी ढाँचा परियोजनाओं, जैसे कि चारधाम परियोजना, में हिमालयी संरक्षण मानकों (जैसे इंटरमीडिएट लेन मानक) को कठोरता से लागू किया जाए और पर्यावरणीय प्रभाव आकलन (EIA) को अनिवार्य बनाया जाए[6]।
2. **सांस्कृतिक संरक्षण और पुनरुत्थान:** स्थानीय संस्कृति, लोक कला और पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानों के संरक्षण पर ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है, ताकि तीर्थयात्रा का मूल श्रद्धाभाव बना रहे और स्थानीय समुदायों का पलायन रुके[1]।
3. **आपदा प्रबंधन और बुनियादी ढाँचा सुधार:** क्षेत्रीय विकास में सड़क, परिवहन और स्वास्थ्य सुविधाओं में सुधार शामिल होना चाहिए[5], लेकिन यह सुधार आपदा प्रबंधन क्षमता और भीड़ प्रबंधन की अपर्याप्तता को दूर करने के उद्देश्य से होना चाहिए, न कि केवल पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए।

उत्तराखंड को 'देवभूमि' के रूप में सुरक्षित रखने के लिए, विकास को पारिस्थितिकी और आस्था की सीमाओं का सम्मान करना होगा। तीर्थयात्राओं को केवल पर्यटन के रूप में नहीं, बल्कि पवित्रता और मोक्ष की खोज के रूप में पुनः स्थापित करना ही इस क्षेत्र के सामाजिक-पारिस्थितिक स्थायित्व को सुनिश्चित कर सकता है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

उत्तराखंड की तीर्थयात्रा परंपराएँ: आस्था, प्रकृति और मोक्ष का संगम

भूमिका और तीर्थयात्रा परंपरा का अवलोकन

उत्तराखंड, जिसे प्राचीन काल से **'देवभूमि'** या देवताओं का निवास स्थान कहा जाता रहा है, न केवल अपनी अलौकिक प्राकृतिक सुंदरता के लिए बल्कि अपनी गहन और विविध **तीर्थयात्रा परंपराओं** के लिए भी विश्व विख्यात है। यहाँ की यात्राएँ (तीर्थ) केवल भौगोलिक दूरी तय करने का माध्यम नहीं हैं, बल्कि ये आत्मा की शुद्धि, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष के मार्ग पर चलने का एक आध्यात्मिक संकल्प हैं।

उत्तराखंड की ये यात्राएँ हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों—शैव, वैष्णव, शाक्त—के बीच समन्वय स्थापित करती हैं और इन्हें स्थानीय लोक आस्था के साथ जोड़ती हैं। यहाँ चार ऐसी महान और अनूठी यात्रा परंपराएँ हैं जो इस क्षेत्र की पहचान हैं:

1. **चारधाम यात्रा (Char Dham Yatra):** हिमालयी क्षेत्रों के चार पवित्र मंदिरों (यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ) की यात्रा।
2. **कुंभ मेला (Kumbh Mela):** हरिद्वार में आयोजित होने वाला विश्व का सबसे बड़ा धार्मिक समागम।
3. **नंदा राजजात (Nanda Rajjat):** देवी नंदा (पार्वती) की 12 वर्ष में एक बार होने वाली महा-यात्रा।
4. **कैलाश मानसरोवर यात्रा (Kailash Mansarovar Yatra):** भगवान शिव के निवास और मानसरोवर झील की यात्रा।

इन यात्राओं ने सदियों से उत्तराखंड को भारत की आध्यात्मिक राजधानी बनाए रखा है और यहाँ की संस्कृति, अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक ताने-बाने को गहराई से प्रभावित किया है।

चारधाम यात्रा: परिचय, पौराणिक और भौगोलिक विवरण (यमुनोत्री, गंगोत्री)

चारधाम यात्रा उत्तराखंड की तीर्थयात्राओं का शिखर है। यह यात्रा हिंदू धर्म के दो प्रमुख संप्रदायों—शैव और वैष्णव—को एक ही पथ पर लाती है, जो मोक्ष की कामना रखने वाले प्रत्येक हिंदू के लिए अनिवार्य मानी जाती है।

चारधाम का परिचय

यह यात्रा चार पवित्र स्थलों की परिक्रमा है:

1. **यमुनोत्री:** देवी यमुना का उद्गम।
2. **गंगोत्री:** देवी गंगा (भागीरथी) का उद्गम।

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

3. **केदारनाथ:** भगवान शिव का ज्योतिर्लिंग।
4. **बद्रीनाथ:** भगवान विष्णु का निवास।

पौराणिक महत्व

इन चारों धामों को 8वीं शताब्दी में महान दार्शनिक **आदि शंकराचार्य** ने हिंदू धर्म को एक सूत्र में पिरोने और सनातन धर्म के पुनरुत्थान के उद्देश्य से स्थापित किया था। यह यात्रा उत्तर दिशा में स्थित होने के कारण **छोटा चारधाम** कहलाती है, जबकि बृहत् चारधाम में रामेश्वरम, द्वारका, पुरी और बद्रीनाथ शामिल हैं।

1. यमुनोत्री (Yamunotri)

- **उद्गम स्थल:** यह पश्चिमी गढ़वाल (उत्तरकाशी) में **यमुना नदी** का उद्गम स्थल है। यहाँ मुख्य मंदिर बंदरपूंछ पर्वत के निचले हिस्से में स्थित है।
- **आस्था:** यह मंदिर देवी यमुना को समर्पित है, जो मृत्यु के देवता यमराज की बहन मानी जाती हैं। मान्यता है कि यमुना में स्नान करने से यमलोक की यातनाओं से मुक्ति मिलती है।
- **विशेषता:** मंदिर के पास कई गर्म पानी के कुंड हैं, जिनमें **सूर्य कुंड** प्रमुख है। श्रद्धालु कुंड के जल में चावल और आलू उबालकर प्रसाद बनाते हैं।

2. गंगोत्री (Gangotri)

- **उद्गम स्थल:** यह **भागीरथी नदी** (जिसे गंगा कहा जाता है) का उद्गम स्थल है। वास्तविक उद्गम गोमुख हिमनद है, लेकिन मंदिर गंगोत्री में स्थित है।
- **पौराणिक कथा:** महाराजा भागीरथ ने अपने पूर्वजों को मोक्ष दिलाने के लिए यहाँ कठोर तपस्या की थी, जिसके परिणामस्वरूप देवी गंगा स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित हुईं।
- **आस्था:** गंगोत्री गंगा के अवतरण का स्थल है, और यहाँ गंगा में डुबकी लगाने से सभी पापों से मुक्ति मिलती है। यहाँ की वास्तुकला पारंपरिक पहाड़ी शैली की है।

चारधाम यात्रा: बद्रीनाथ और केदारनाथ का महत्व

चारधाम यात्रा के दो अन्य धाम **बद्रीनाथ** और **केदारनाथ** हैं, जो शैव और वैष्णव आस्था के सर्वोच्च केंद्र हैं।

3. केदारनाथ (Kedarnath)

- **देवता:** यह भगवान शिव को समर्पित है और **द्वादश ज्योतिर्लिंगों** में से एक है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

- **पौराणिक कथा:** महाभारत युद्ध के बाद पांडवों ने यहाँ शिव के दर्शन कर अपने पापों से मुक्ति पाने का प्रयास किया। शिव उन्हें दर्शन न देने के लिए भैंस का रूप धारण कर भूमि में समा गए। पांडवों ने भैंस के कूबड़ (Hump) को पकड़ लिया। भैंस के धड़ का ऊपरी हिस्सा (कूबड़) केदारनाथ में पूजित है।
- **पंच केदार:** कूबड़ के अलावा, शिव के शरीर के अन्य भाग चार अन्य स्थानों पर पूजे जाते हैं, जिन्हें **पंच केदार** कहा जाता है (तुंगनाथ, रुद्रनाथ, मध्यमहेश्वर, कल्पेश्वर)। केदारनाथ इन पंच केदारों का केंद्रीय धाम है।
- **लोकेशन:** यह रुद्रप्रयाग जिले में मंदाकिनी नदी के किनारे, 3,583 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है।

4. बद्रीनाथ (Badrinath)

- **देवता:** यह भगवान विष्णु को समर्पित है और चारधाम (बृहत्) में शामिल एकमात्र धाम है। यहाँ भगवान विष्णु **बद्री विशाल** के रूप में ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं।
- **पौराणिक कथा:** माना जाता है कि भगवान विष्णु ने यहाँ नर-नारायण के रूप में तपस्या की थी। जब उन्हें गर्मी लगी, तो देवी लक्ष्मी ने बेर (बद्री) का वृक्ष बनकर उन्हें छाया प्रदान की, इसलिए यह स्थान बद्रीनाथ कहलाया।
- **वैष्णव महत्व:** यह भारत के वैष्णव संप्रदाय के लिए सबसे महत्वपूर्ण स्थल है।
- **विशेषता:** मंदिर के पास **तप्त कुंड** (गर्म पानी का झरना) है, जहाँ यात्री अलकनंदा के बर्फीले पानी में डुबकी लगाने से पहले स्नान करते हैं।

यात्रा का सामाजिक और आर्थिक प्रभाव

यह यात्रा लाखों तीर्थयात्रियों को आकर्षित करती है, जिससे पर्वतीय क्षेत्रों में रोजगार, होटल उद्योग और गाइड सेवाओं को बढ़ावा मिलता है। यह पहाड़ी जीवनशैली और अर्थव्यवस्था की रीढ़ है।

कुंभ मेला: परिचय, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और ज्योतिषीय आधार

कुंभ मेला हिंदू धर्म का वह सबसे बड़ा और दिव्य समागम है जिसे यूनेस्को द्वारा मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (Intangible Cultural Heritage) के रूप में मान्यता दी गई है। यह उत्तराखंड में **हरिद्वार** में आयोजित होता है।

1. कुंभ मेला का परिचय

- **समय:** यह प्रत्येक 12 वर्ष के चक्र में हरिद्वार में आयोजित होता है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

- **विश्वव्यापी महत्व:** यह विश्व में सबसे अधिक लोगों के शांतिपूर्ण ढंग से एकत्र होने का रिकॉर्ड रखता है।
- **उद्देश्य:** कुंभ मेले में शामिल होने वाले करोड़ों श्रद्धालु पवित्र नदियों में डुबकी लगाकर पापों का शमन और मोक्ष की प्राप्ति की कामना करते हैं।

2. पौराणिक आधार: समुद्र मंथन

कुंभ मेले का आधार **समुद्र मंथन** की पौराणिक कथा है।

- **अमृत कलश:** देवताओं और असुरों ने मिलकर चौदह रत्न और अंत में **अमृत कलश** निकालने के लिए समुद्र का मंथन किया।
- **अमृत की बूँदें:** जब अमृत कलश के लिए देवताओं और असुरों के बीच संघर्ष हुआ, तो अमृत की बूँदें चार स्थानों पर गिरीं:
    1. **हरिद्वार (उत्तराखंड)**
    2. **प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)**
    3. **नासिक (महाराष्ट्र)**
    4. **उज्जैन (मध्य प्रदेश)** इन्हीं चार स्थानों पर चक्रीय क्रम में कुंभ मेला आयोजित होता है।

3. ज्योतिषीय आधार

मेला अमृत की बूँदें गिरने के समय बनने वाली विशिष्ट ज्योतिषीय स्थितियों के आधार पर आयोजित होता है:

स्थान ज्योतिषीय स्थिति (सूर्य/बृहस्पति)

हरिद्वार जब सूर्य मेष राशि में और बृहस्पति कुंभ राशि में होता है।

प्रयागराज जब सूर्य मकर राशि में और बृहस्पति वृष राशि में होता है।

कुंभ मेला: हरिद्वार का विशिष्ट महत्व और शाही स्नान

हरिद्वार का कुंभ मेला विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यहाँ गंगा नदी पहाड़ों को छोड़कर पहली बार मैदानी क्षेत्र में प्रवेश करती है, और इस स्थान को **देवताओं का द्वार** कहा जाता है।

हरिद्वार का महत्व

Dr Rakesh Mohan Nautiyal

- **ब्रह्म कुंड:** हरिद्वार में हरकी पौड़ी पर स्थित **ब्रह्म कुंड** वह स्थान है जहाँ अमृत की बूँदें गिरी थीं। इस कुंड में डुबकी लगाना सबसे अधिक पुण्यकारी माना जाता है।
- **गंगा का प्रवेश:** यहाँ गंगा का बहाव शांत और विशाल होता है, जो स्नान के लिए आदर्श है।

शाही स्नान (Shahi Snan)

कुंभ मेले का सबसे रोमांचक और केंद्रीय आकर्षण **शाही स्नान** होता है।

- **महत्व:** यह वह विशिष्ट दिन होता है जब विभिन्न **अखाड़ों** (संतों के धार्मिक और सैन्य संगठन) के प्रमुख संत और नागा साधु जुलूस निकालकर ब्रह्म कुंड में पवित्र स्नान करते हैं।
- **क्रम:** शाही स्नान एक निश्चित क्रम में होता है, जिसकी शुरुआत सबसे बड़े और सबसे प्राचीन अखाड़ों से होती है। यह स्नान साधकों के लिए मोक्ष प्राप्ति का सबसे शुभ अवसर होता है।
- **नागा साधु:** नागा साधुओं का जुलूस, उनका वैराग्य, और उनका शारीरिक तप (जैसे भस्म लगाना, लंबे बाल) इस दृश्य को अद्वितीय और रहस्यमय बना देता है।

अखाड़ों की भूमिका

- **संरक्षण:** अखाड़े सनातन धर्म और उसकी परंपराओं के प्राचीन संरक्षक हैं। उन्होंने मुगल काल और ब्रिटिश शासन के दौरान भी धर्म की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- **शक्ति केंद्र:** कुंभ के दौरान अखाड़े धार्मिक शक्ति केंद्र के रूप में कार्य करते हैं, जो अपने अनुशासन और सैन्य व्यवस्था के लिए जाने जाते हैं।
- **मुख्य अखाड़े: जूना अखाड़ा, निरंजनी अखाड़ा, महानिर्वाणी अखाड़ा** आदि प्रमुख हैं।

नंदा राजजात: परिचय, पौराणिक कथाएँ और आयोजन

नंदा राजजात को 'हिमालय की महाकुंभ' या 'देवताओं का महाकुंभ' कहा जाता है। यह उत्तराखंड की सबसे लंबी और सबसे जोखिम भरी धार्मिक पदयात्रा है, जिसका आयोजन लगभग हर **12 वर्ष** में एक बार होता है।

1. नंदा राजजात का परिचय

- **देवता:** यह यात्रा देवी **नंदा** (पार्वती का एक रूप) को समर्पित है, जिन्हें गढ़वाल और कुमाऊँ की ईष्ट देवी माना जाता है।
- **प्रकृति:** यह एक विदाई यात्रा है, जहाँ देवी नंदा को उनकी ससुराल **कैलाश** (शिव का धाम) भेजा जाता है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

- **अवधि और दूरी:** यह यात्रा लगभग 19 से 20 दिनों की पदयात्रा होती है और लगभग 280 किलोमीटर की दूरी तय करती है, जिसमें ऊँचे दर्रों और ग्लेशियरों को पार करना होता है।

2. पौराणिक कथा

मान्यता है कि देवी नंदा, हिमालयी राजा दक्ष प्रजापति की पुत्री थीं और भगवान शिव की पत्नी।

- **मायके से विदाई:** लोककथाओं के अनुसार, नंदा देवी अपनी मायके (गढ़वाल क्षेत्र) को छोड़कर अपनी ससुराल (कैलाश) जा रही थीं। इस विदाई में उनके मायके वाले, विशेषकर उनके भाई **लाटू देवता** (जिन्हें विष्णु का रूप माना जाता है), उन्हें दूर तक छोड़ने जाते हैं।
- **अंतिम गंतव्य:** यात्रा का अंतिम गंतव्य **होमकुंड** है, जहाँ से देवी कैलाश की ओर प्रस्थान करती हैं। होमकुंड के पास स्थित **रूपकुंड** (रहस्यमयी कंकालों वाली झील) भी इसी यात्रा मार्ग में आता है।

3. यात्रा का आयोजन

यात्रा का शुभारंभ चमोली जिले के **नौटी गांव** (Nauti Village) से होता है, जहाँ देवी नंदा का मंदिर है। यात्रा की तैयारी और प्रबंधन स्थानीय लोक समितियों, सरकार और धार्मिक संस्थाओं द्वारा मिलकर किया जाता है।

नंदा राजजात: यात्रा मार्ग, चौसिंग्या खाडू और सांस्कृतिक महत्व

नंदा राजजात की विशिष्टता न केवल इसकी भव्यता में है, बल्कि उन अनूठे प्रतीकों और परंपराओं में भी है जो इसे लोक आस्था का सर्वोच्च शिखर बनाते हैं।

1. यात्रा मार्ग की विशिष्टता

यह यात्रा गढ़वाल की कठिन भौगोलिक परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़ती है:

- **गंतव्य:** नौटी गांव से शुरू होकर **वेदनी बुग्याल, रूपकुंड, शिलासमुद्र** होते हुए **होमकुंड** तक जाती है।
- **दोषमुक्त मार्ग:** यह यात्रा अनेक बुग्यालों (घास के मैदानों) और बर्फीले दर्रों से होकर गुजरती है, जहाँ यात्री कठोर तपस्या करते हैं। इस यात्रा के दौरान गलती करने वाले को देवी के प्रकोप का भय रहता है।

2. चौसिंग्या खाडू (Chausngya Khadu)

नंदा राजजात का सबसे अनूठा प्रतीक एक **चार सींगों वाला नर मेढ़ा** (Four-horned Ram) होता है।

- **देवी का दूत:** इस मेढ़े को स्वयं देवी नंदा का दूत या वाहक माना जाता है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

- **जिम्मेदारी:** यह मेढ़ा देवी का सारा सामान (जैसे पालकी, छाता, वस्त्र) अपने साथ होमकुंड तक ले जाता है।
- **विलय:** होमकुंड पहुँचने पर, मेढ़े को मुक्त कर दिया जाता है, और वह अलौकिक रूप से आगे कैलाश की ओर बढ़ जाता है। इस मेढ़े को अंतिम चरण में कोई मनुष्य स्पर्श नहीं करता।

3. सांस्कृतिक और लोक महत्व

- **गढ़वाल-कुमाऊँ एकता:** देवी नंदा को दोनों क्षेत्रों की देवी माना जाता है, इसलिए यह यात्रा सांस्कृतिक रूप से दोनों क्षेत्रों को एकजुट करती है।
- **जागर:** यात्रा के दौरान, विभिन्न पड़ावों पर स्थानीय लोकगीतों और **जागर** (देवताओं को आमंत्रित करने का लोक अनुष्ठान) का गायन होता है, जो इस यात्रा को लोक परंपरा का एक जीवंत प्रदर्शन बना देता है।
- **सामुदायिक भागीदारी:** इस यात्रा में स्थानीय डोली बनाने वाले, पुरोहित, और गाँव के निवासी सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, जिससे यह परंपरा सामुदायिक सहयोग पर आधारित है।

कैलाश मानसरोवर यात्रा: धार्मिक महत्व और भूगोल

कैलाश मानसरोवर यात्रा को हिंदू धर्म में सभी यात्राओं में सर्वोच्च माना जाता है। यह उत्तराखंड से होकर गुजरने वाला एक ऐतिहासिक मार्ग है, जहाँ श्रद्धालु भारत की सीमा पार करके तिब्बत (चीन) में स्थित कैलाश पर्वत और मानसरोवर झील तक पहुँचते हैं।

1. धार्मिक महत्व

- **कैलाश पर्वत (Mount Kailash):** इसे भगवान शिव का स्थायी निवास (आवास) माना जाता है। शिव यहाँ अपने योगिक रूप में निवास करते हैं और यहीं से पूरी सृष्टि का संचालन करते हैं।
- **मानसरोवर झील (Lake Manasarovar):** इस झील को विश्व की सबसे पवित्र झीलों में से एक माना जाता है।
    - **पौराणिक कथा:** मान्यता है कि यह झील ब्रह्मा जी के मन से उत्पन्न हुई थी, इसलिए इसका नाम **मानसरोवर** पड़ा। इसमें स्नान करने और इसका पानी पीने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।
- **सर्वाधिक पूजित स्थल:** यह स्थल केवल हिंदुओं के लिए ही नहीं, बल्कि **बौद्धों** (जहाँ इसे डेमचोक बुद्ध का निवास मानते हैं), **जैनों** (जहाँ पहले तीर्थंकर ऋषभदेव को मोक्ष मिला था) और **बोन** धर्म (तिब्बत का प्राचीन धर्म) के अनुयायियों के लिए भी पवित्र है।

2. भौगोलिक स्थान और कठिनाई

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

- **लोकेशन:** कैलाश पर्वत और मानसरोवर झील तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र, चीन में स्थित हैं।
- **दुर्गमता:** यह यात्रा अत्यंत दुर्गम है क्योंकि यह 4,500 मीटर से अधिक की ऊँचाई पर स्थित है। यात्रियों को उच्च-ऊँचाई रोग (AMS) और कठोर जलवायु का सामना करना पड़ता है।
- **अंतर्राष्ट्रीय संबंध:** यह यात्रा भारत और चीन के बीच राजनयिक समझौतों के तहत आयोजित होती है, जिसमें प्रशासनिक अनुमति और वीजा अनिवार्य है।

कैलाश मानसरोवर यात्रा: यात्रा मार्ग और आध्यात्मिक अनुभव

कैलाश मानसरोवर यात्रा को दो मुख्य मार्गों से संचालित किया जाता रहा है, जिनमें से एक उत्तराखंड के पहाड़ों से होकर गुजरता है।

1. उत्तराखंड का पारंपरिक मार्ग (लिपुलेख दर्रा)

- **प्रारंभिक बिंदु:** यह यात्रा दिल्ली से शुरू होकर उत्तराखंड के कुमाऊँ क्षेत्र (पिथौरागढ़ जिले) में प्रवेश करती है।
- **मुख्य पड़ाव:** धारचूला, तवाघाट, बुग्दी, गुंजी और कालापानी (जहाँ काली नदी का उद्गम है) इस मार्ग के महत्वपूर्ण पड़ाव हैं।
- **लिपुलेख दर्रा (Lipulekh Pass):** लगभग 5,215 मीटर की ऊँचाई पर स्थित यह दर्रा भारत और तिब्बत की सीमा पर है, जिसे पार करने के बाद यात्री तिब्बती पठार में प्रवेश करते हैं।
- **विशेषता:** यह एक लंबी, जोखिम भरी और पैदल यात्रा होती थी, जिसमें प्राकृतिक सुंदरता और ऐतिहासिक महत्त्व का अनुभव होता था।

2. यात्रा का आध्यात्मिक अनुभव

- **परिक्रमा (Kora/Parikrama):** कैलाश पर्वत की परिक्रमा (कोरा) इस यात्रा का सबसे पवित्र हिस्सा है। माना जाता है कि एक परिक्रमा करने से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है।
- **मानसरोवर में स्नान:** मानसरोवर झील में डुबकी लगाना और उसके पवित्र जल को ग्रहण करना आत्मशुद्धि का प्रतीक है।
- **एकांत और ध्यान:** इस यात्रा का कठोर वातावरण और पहाड़ों का एकांत यात्रियों को आत्म-मंथन और गहन ध्यान के लिए प्रेरित करता है। यह यात्रा भौतिक शरीर की सीमाओं को पार करके आत्मा के साथ जुड़ने का एक दुर्लभ अवसर प्रदान करती है।
- **वर्तमान स्थिति:** वर्तमान में, प्रशासनिक कारणों से यह यात्रा स्थगित है, लेकिन इसका आध्यात्मिक महत्व अटल है।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal

निष्कर्ष: इन परंपराओं का समन्वय और उत्तराखंड की पहचान पर प्रभाव

उत्तराखंड की तीर्थयात्रा परंपराएँ इस बात का प्रमाण हैं कि यह क्षेत्र न केवल 'देवभूमि' है, बल्कि विभिन्न धार्मिक और लोक परंपराओं का एक महान समन्वय केंद्र भी है।

1. धार्मिक समन्वय (Fusion of Faiths)

- **शैव-वैष्णव एकता:** चारधाम यात्रा शिव (केदारनाथ) और विष्णु (बद्रीनाथ) को एक ही यात्रा पथ पर लाती है।
- **लोक और पौराणिक आस्था का मेल:** नंदा राजजात में पौराणिक देवी पार्वती (नंदा) की पूजा स्थानीय लोक देवताओं और परंपराओं (लाटू देवता, जागर) के साथ मिलकर होती है।
- **बहु-धार्मिक स्वीकार्यता:** कैलाश मानसरोवर हिंदू, बौद्ध, जैन और बोन धर्मों के अनुयायियों के लिए समान रूप से पवित्र है, जो उत्तराखंड की धार्मिक सहिष्णुता को दर्शाता है।

2. उत्तराखंड की पहचान पर प्रभाव

- **सांस्कृतिक संरक्षण:** ये यात्राएँ यहाँ की प्राचीन संस्कृति, रीति-रिवाजों, लोक कलाओं और भाषाओं के संरक्षण में सहायक होती हैं।
- **आध्यात्मिक केंद्र:** इन यात्राओं के कारण उत्तराखंड भारत का शाश्वत आध्यात्मिक केंद्र बना हुआ है, जहाँ साधक ज्ञान और मोक्ष की खोज में आते हैं।
- **पर्यावरणीय चेतना:** इन यात्राओं का प्राकृतिक वातावरण में होना श्रद्धालुओं में प्रकृति के प्रति सम्मान और संरक्षण की भावना को बढ़ावा देता है।

अंतिम विचार: उत्तराखंड की तीर्थयात्रा परंपराएँ एक खुली किताब की तरह हैं, जिसमें आस्था, तपस्या, साहस और प्रकृति के साथ मनुष्य के गहरे संबंध की कहानी लिखी है। ये यात्राएँ हर पीढ़ी को धर्म, पर्यावरण और स्वयं की खोज के लिए प्रेरित करती रहेंगी।

Dr. Rakesh Mohan Nautiyal